प्रकाशक—**श्री जवाहर साहित्य समिति**
(अन्तर्गत—श्री जवाहर विद्यापीठ)
भीनासर (बीकानेर) राजस्थान

●

प्रथम आवृत्ति—१००० (वि० सं० २०१४)
द्वितीय आवृत्ति—११०० (वि० सं० २०३५)

●

मूल्य—चार रुपया

●

मुद्रक—
जैन आर्ट प्रेस,
(श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ द्वारा संचालित)
समता भवन, रामपुरिया मार्ग, **बीकानेर** (राजस्थान)

प्र का श की य



जवाहर किरणावली की ३३ वीं किरण प्रकाशित करते हुए अत्यन्त प्रसन्नता हो रही है। महामहिम स्व० पूज्य श्री जवाहराचार्य जैन-समाज के महान् सन्त थे। उनकी ओजस्वी वाणी ने जन-जन के हृदय को उद्वेलित और प्रभावित किया था। उनके प्रभाव-जनक उपदेशो से सहस्रो व्यक्तियो का जीवन परिवर्तित हो गया था। लाखो को नयी प्रेरणा और नयी दिशा का ज्ञान हुआ था। उनके बहुमूल्य व्याख्यान 'जवाहर किरणावली' के नाम से प्रकाशित हुए हैं। प्रस्तुत प्रकाशन उसी शृखला की एक कडी है।

इससे पूर्व प्रकाशित ३१ वी किरण मे तथा प्रस्तुत ३२ वी और ३३ वी किरण में सम्यग्दर्शन का और गृहस्थ के बारह व्रतो का निरूपण किया गया है। सम्यग्दर्शन सबन्धी व्याख्यान पहले प्रकाश मे नही आये थे। बारह व्रत रतलाम मडल की ओर से छोटी छोटी पुस्तिकाओ के रूप मे प्रकाशित हुए थे। उन सब को एक ही साथ प्रकाशित करने की आवश्यकता थी। उनमे भाषा सबधी सस्कार की भी आवश्यकता थी और पूज्य श्री के संगृहीत लिखित साहित्य के आधार पर कतिपय विषयो की वृद्धि की भी आवश्यकता थी। वह कार्य इस सस्करण मे किया गया है। उदाहरणार्थ—षडावश्यक गृहस्थधर्म का एक अनिवार्य अग है। उस पर पूज्य श्री ने अपने व्याख्यानो में हृदयग्राही विवेचन किया है।

उसको गृहस्थधर्म में सम्मिलित किये बिना गृहस्थधर्म अपूर्ण ही रह जाता था। यह त्रुटि यहां पूरी कर दी गई है। इसी प्रकार अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य आदि व्रतों में पूज्य श्री के कतिपय तेज-पूर्ण विचार, जो पहले इनके साथ प्रकाशित नहीं हुए थे, यहां शामिल कर दिये गये हैं। आशा है, इस परिष्कार से पाठकों को विशेष लाभ होगा।

श्री जवाहराचार्य के व्याख्यानों में हमें एक क्रान्ति का उद्घोष करने वाले क्रान्तिकारी, सुप्त समाज को जगाने वाले महान् सुधारक, उत्पीड़ितो एवं दुःखो से व्याकुल जनसमूह को धैर्य और साहस बंधाने वाले सहायक तथा जन्म-मरण की पीड़ाओं से त्रस्त जगत् को अमरत्व का संदेश देने वाले शान्तिदूत के दर्शन होते हैं।

इस किरण का प्रथम संस्करण सन् १९५७ में सम्यक् ज्ञान मन्दिर, कलकत्ता की ओर से प्रकाशित हुआ था किन्तु वह समाप्त हो गया। अतः श्रद्धालु पाठको के आग्रह एव इसकी लोकप्रियता को ध्यान में रखकर इसका दूसरा सस्करण धर्मनिष्ठ सुश्राविका बहिन श्रीमती राजकुंवर बाई मालू बीकानेर द्वारा श्री जवाहर साहित्य समिति, भीनासर को साहित्य प्रकाशन के लिए प्रदत्त धनराशि से प्रकाशित हुआ है। सत्साहित्य के प्रचार के लिए बहिन जी की अनन्य-निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

आजकल कागज एव मुद्रण आदि का व्यय काफी वढ जाने से इस संस्करण की कीमत बढ़ाने के लिये बाध्य होना पड़ा है।

प्रकाशन कार्य में श्री अ० भा० साधुमार्गी जैन संघ और उसके द्वारा सचालित जैन आर्ट प्रेस का समिति को पूर्ण सहयोग रहा है, एतदर्थ समिति उनके प्रति आभार प्रकट करती है।

मंत्री,

श्री जवाहर साहित्य समिति

(अन्तर्गत-श्री जवाहर विद्यापीठ)

भीनासर (बीकानेर)



विषयानुक्रम



तीन गुणाव्रत

विषय प्रवेश

आत्मा, अनादि काल से सुखाभिलाषी होकर सुख की खोज मे इतस्तत. परिभ्रमण करता हुआ स्वर्ग मर्त्य पाताल के सभी स्थानो को एक बार नही किन्तु अनेक वार स्पर्श कर आया है और जिन्हे आत्मा सुख का साधन मान रहा है, उन रत्नों, आभूषणो, महलो एव अप्सराओ का स्वामी बन कर उनका उपभोग भी कर आया है । फिर भी इस आत्मा को कही भी सुख नही मिला, -किन्तु वे सुख के साधन-भोगे हुए भोग दु ख वढाने के कारण ही हुए तथा हो रहे है । कवि ठीक कहता है कि -

न ससारोत्पन्न चरितमनुपश्यामि कुशल ।
विपाकः पुण्यानां जनयति भय मे विमृशत' ।।
महद्भिः पुण्यौघैश्चिरपरिग्रहीताश्च विषयाः ।
महान्तो जायन्ते व्यसनमिव दातु विषयिणाम् ।।

[वैराग्य शतक]

अर्थात्-संसार से उत्पन्न चरित्रो पर जव दृष्टिपात किया जाता है तो उनमे कुशलता नही दिखाई देती, अपितु पुण्य-फल स्वरूप प्राप्त हुई स्वर्गादि सम्पत्ति भयावह ही दीख पड़ती है । अर्थात् पुण्य क्षय होने पर स्वर्गादि से भी पतन

होता है और पुण्य-समूह के प्रभाव से बहुत दिनों तक जिस सामग्री का सचय किया है, वह विपय-सामग्री अन्त समय मे विपयासक्तो के लिए सन्ताप देने वाली बन जाती है, तथा आत्मा आर्त्त रौद्र ध्यान के कारण दुर्गति का पथिक हो जाता है।

जैन शास्त्र भी यही कहते हैं कि पहले तो विषय सुख के साधनो को प्राप्त करने मे दुःख, यदि प्राप्त हो गये तो रक्षरण का दुःख, पश्चात् उन्हे भोगते समय अतृप्ति अथवा इन साधनो को कोई छीन न ले, इस बात की चिन्ता का दुःख और जब वे साधन छूट जाते है, तब वियोग का दुःख। इस तरह विषय-सुख के साधनों मे दुःख बता कर ज्ञानी महापुरुष कहते हैं कि—हे आत्मा ! यदि तुझे सच्चे और वास्तविक सुख की चाह है तो जिनमे तूने सुख मान रखा है, उन विषय-सुख के साधनो से अपना ममत्व हटा, उनकी ओर से त्याग-भावना स्वीकार कर। जब तुझमे ऐसी त्याग-भावना होगी और तू विषय-सुख के साधनो को त्यागता जाएगा, तब ही तुझे सुख का अनुभव होगा।

ऊपर बताई गई त्याग-भावना को आचरण मे लानें के लिए शास्त्रकारों ने दो मार्गों का विधान किया है। पहला मार्ग है सासारिक पदार्थों, अथवा वास्तविक सुख प्राप्त होने के बाधक कारणो का सर्वथा (पूर्ण) त्याग और दूसरा मार्ग है आशिक अथवा देश से त्याग। कई व्यक्ति ऐसे होते हैं कि उन्होने जिनको हेय मान लिया है उन कार्यों या पदार्थों को अविलम्ब पूरी तरह त्याग देते हैं। इस तरह का त्याग करने वाले, महाव्रती कहे जाते हैं। ऐसा त्याग वे ही कर सकते हैं, जिनका निश्चय मे तो प्रत्याख्याना-

वरणीय क्रोधादि कषाय का क्षयोपशम हो गया है और व्यवहार मे जिन्हे सांसारिक पदार्थों की ओर से उपरति घृणा अथवा वैराग्य भावना हो गई है, तथा जो असयमपूर्ण जीवन से निकल कर सयमपूर्ण जीवन बिताना उचित एवं आवश्यक मानते हैं ।

किन्तु जो लोग इस सीमा तक नही पहुंचे हैं, जिनके प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का क्षयोपशम नही हुआ, अथवा सासारिक कार्य व्यवहार एवं विषय-भोग के साधनो से जिनका ममत्व पूरी तरह नही हटा है, अथवा जो इन सवको सर्वथा त्यागने मे असमर्थ है, फिर भी जो इनके त्याग का मार्ग अपनाकर उस पर आगे बढना चाहते हैं, वे इन सवको आशिक अथवा देश से त्यागते हैं। ऐसे लोगो के लिए शास्त्रकारो ने पाच अणुव्रतो का विधान किया है। यद्यपि ऐसे देश-त्यागियो का भी ध्येय तो वही रहता है, जो पूर्ण त्यागियो का होता है, परन्तु देश से त्याग करने वाले लोग उस ध्येय की ओर धीरे-धीरे बढना चाहते हैं। शास्त्रकारो द्वारा वताये गये पाच अणुव्रतो का पालन गृहस्थावस्था मे भी कियो जा सकता है और इन व्रतो को पालने वाले व्रतधारी श्रावक कहे जाते हैं ।

यद्यपि महाव्रती न होने वालो के लिए शास्त्र मे पाच अणुव्रतो का विधान है और गृहस्थ श्रावक उन अणुव्रतो को स्वीकार भी करते है, परन्तु गृहस्थावस्था मे अनेक ऐसी वाधाए उपस्थित होती है, अथवा ऐसे आकर्षक कारण है कि जिनसे स्वीकृत अणुव्रतो का पालन करने मे कठिनाइया जान पडने लगती हैं । अत ऐसे अणुव्रत-धारियो को उन कठिनाइयो से वचाने के लिए शास्त्रकारो ने तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत वताये । तीन गुणव्रत पाच अणुव्रतो मे

शक्ति सचार करते हैं, विशेषता उत्पन्न करते हैं, उनके पालन मे होने वाली कठिनाइयों को दूर करते हैं और मूल अरणुव्रतो को निर्मल रखते हैं ।

अरणुव्रतो की सहायता के लिए बताये गये तीन गुरणव्रतो मे वृत्ति संकोच को ही विशेपता दी गई है । जब तक गमनागमन कम न किया जावे, उपभोग-परिभोग की मर्यादा न की जावे, आजीविका के लिए की जाने वाली प्रवृत्ति के विपय में औचित्य अनौचित्य का विवेक करके अनुचित प्रवृत्ति न त्याग दी जावे, तब तक धारण किये हुए अरणुव्रतों का पालन करने मे कठिनाइयो का उपस्थित होना स्वाभाविक ही है ।

इसी तरह गुरणव्रतो की रक्षा के लिए चार शिक्षा-व्रतो का जो विधान किया गया है, उन शिक्षाव्रतो को स्वीकार करना भी आवश्यक है क्योकि गुरणव्रतो मे स्वीकृत वृत्ति सकोच को सुदृढ वनाने वाले शिक्षाव्रत ही हैं। गुरणव्रत एवं शिक्षाव्रत मूल अरणुव्रतो के प्राणस्वरूप हैं। जिस तरह शरीर तभी तक उपयोगी एव कार्यसाधक है, जब तक की उसमे प्रारण है, उसी तरह गुरणव्रत एवं शिक्षाव्रत के होने पर ही मूल अरणुव्रत भी उपयोगी एवं कार्यसाधक हो सकते है। इस वात को दृष्टि मे रख कर शास्त्रकारो ने श्रावक के वारह व्रतो को मूलव्रत, गुरणव्रत और शिक्षाव्रत इन तीन भागो मे विभक्त कर दिया है। श्रावक के मूल पाच व्रत स्थूल अहिंसा, स्थूल सत्य, स्थूल अचौर्य, स्थूल ब्रह्मचर्य और परिग्रह-परिमारण है । इन पाच मूल व्रतो के पश्चात् दिक् परिमाण, उपभोग-परिभोग-परिमारण और अनर्थ दण्ड विरमरण ये तीन गुरणव्रत हैं तथा

सामायिक, देशावगासिक, पौपधोपवास एव अतिथि सविभाग ये चार शिक्षाव्रत है ।

दिक्परिमाण व्रत, उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत और अनर्थ-दण्ड विरमणव्रत, ये तीनो गुण व्रत है, अर्थात् जिस भावना से अव्रत का त्याग किया जाता है उस भावना को आचरण मे लाने के लिए वृत्ति का सकोच करने वाले ये ही तीन व्रत है । इनका धारण एव पालन करने मे बहुत ही सावधानी तथा विवेक की आवश्यकता है । यदि इन व्रतो को निभाने के लिए वृत्ति का सकोच न किया गया और विवेक से काम न लिया गया तो गुण के वदले अवगुण पैदा हो जाता है । उदाहरण के लिए त्याग की भावना तो वढी नही है, पुद्गलो पर से ममत्व हटा नही है, इन्द्रियो को प्रसन्नता देने वाली अच्छी-अच्छी वस्तुए प्राप्त करने की लालसा वनी हुई है, फिर भी अमुक आरभ-समारम्भ अपने हाथ से करने का त्याग कर ले और दूसरे व्यवसायी व्यक्ति द्वारा तैयार किया हुआ पदार्थ लेकर भोग ले तथा यह माने कि हमने आरम्भ-समारम्भ का पाप नही किया है, किन्तु सीधी वस्तु भोगी है, इसलिए हमारा पाप टल गया है, हम पाप से बचे हुए हैं, तो यह पाप से बचना नही है, अपितु आत्मवचना है । पाप से बचने का यह मार्ग नही है । यह मार्ग गुण के वदले अवगुण उत्पन्न करने वाला है । पाप से वचने के लिए तो अपनी लालसा सीमित करके त्याग-भावना को ही महत्त्व देना चाहिए । यदि ऐसा करने की क्षमता अभी नही है तो अपनी आवश्यकताओ को सादगी और विवेकपूर्वक पूरी करते हुए ऐसी क्षमता प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहना तो ठीक है, परन्तु

वास्तविकता को दूसरा रूप देकर गुण के बदले अवगुण पैदा करना उचित नही है ।

मतलब यह है कि गुणव्रतों को धारण एवं पालन करने में सावधानी और विवेक से काम लेना चाहिए। तभी ये गुणव्रत, मूलव्रतों मे गुण उत्पन्न करने वाले हो सकते है । तीनो गुणव्रतो मे किस तरह की मर्यादा करनी पडती है, तीनो का रूप क्या है, और इन गुणव्रतो से किस किस मूलव्रत मे क्या-क्या विशेषता आती है, आदि बातो के लिए तीनो व्रतो के विषय मे आगे पृथक्-पृथक् विचार किया जाता है ।



दिक्परिमाण व्रत

१—व्रत का स्वरूप

तीन गुणव्रतो मे से प्रथम गुणव्रत और श्रावक के बारह व्रतो मे से छठे व्रत का नाम दिक्परिमाण व्रत है। दिक् का अर्थ है दिशा । जैन शास्त्रानुसार दिशाए तीन है यथा—

दिसिव्वए तिविहे पण्णत्ते तजहा—
उड्ढ, अहेयं, तिरिय ।

अर्थात्—दिक्व्रत तीन तरह का है, उर्ध्व दिक्व्रत, अध. दिक्व्रत और तिर्यक् दिक्व्रत ।

अपने से ऊपर की ओर को ऊर्ध्व दिशा कहते हैं। नीचे की ओर को अधो दिशा कहते है और इन दोनो के बीच की ओर को तिर्यक् दिशा कहते हैं। तिर्यक् दिशा के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण ये चार भेद हैं, जो चार दिशाओ के नाम से प्रसिद्ध है। इन चार दिशाओ के सिवा चार विदिशाए भी हैं, जिनके नाम ईशान, आग्नेय, नैऋत्य और वायव्य हैं । जिस ओर सूर्य निकलता है, उस ओर मुह करके खड़ा रहने पर सामने की ओर पूर्व दिशा होगी

पीठ की ओर पश्चिम दिशा होगी बाये हाथ की ओर उत्तर और दाहिने हाथ की ओर दक्षिण दिशा होगी। इसी तरह सिर की ओर ऊर्ध्व दिशा तथा पैर के नीचे की ओर अध· (नीची) दिशा होगी। उत्तर तथा पूर्व दिशा के बीच के कोण को ईशान कोण कहा जाता है। पूर्व तथा दक्षिण दिशा के बीच के कोण को आग्नेय कोण कहते है। दक्षिण और पश्चिम दिशा के बीच के कोण को नैऋत्य कोण तथा पश्चिम और उत्तर दिशा के बीच का कोण वायव्य कोण कहा जाता है। ये चारो कोण विदिशा कहलाते हैं और विदिशाओ का समावेश दिशाओ मे भी हो जाता है।

इन बताई गई दिशाओ मे गमनागमन करने (जाने आने) के सम्बन्ध मे जो मर्यादा की जाती है, जो यह निश्चय किया जाता है, कि मैं अमुक स्थान से अमुक दिशा मे अथवा सब दिशाओ मे इतनी दूर से अधिक न जाऊगा, उस मर्यादा या निश्चय को दिक्परिमाण व्रत कहते हैं।

अब यह देखते हैं कि दिक्परिमाण व्रत क्यो स्वीकार किया जाता है और दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने से श्रावको को क्या लाभ होता है? श्रावक लोग, जो पाच अणुव्रत स्वीकार करते है, उन व्रतो पर स्थिर रह कर आगे बढना श्रावक का लक्ष्यबिन्दु होता है, परन्तु इसके लिए चित्त की शाति के बिना ध्येय के मार्ग पर स्थिर ही नही रहा जा सकता, तो आगे तो बढ ही कैसे सकता है। और चित्त शान्ति का उपाय है–वृत्ति का सकोच। जब तक चित्त मे चचलता रहती है, जिसकी वृत्ति सकुचित नही है, वह जब किसी स्थान के विषय मे कोई बात सुनता है, तब उसे वह स्थान देखने, उस स्थान विषयक अनुभव प्राप्त करने

और वहां के पदार्थों को भोगने का विचार हो ही जाता है। असकुचित वृत्ति वाले मनुष्य का यह स्वभाव ही होता है। इस चंचलता के कारण गमनागमन होना भी स्वाभाविक है और तब त्याग-भावना छूट कर विलासिता अपना आधिपत्य जमा लेती है। इसलिए व्रतधारी श्रावक को अपनी साधारण आवश्यकताएं दृष्टि मे रख कर दिशाओ मे गमनागमन की मर्यादा करने रूप दिक्परिमाण व्रत अवश्य स्वीकार करना चाहिए।

२—दिक्व्रत का अन्य व्रतों पर प्रभाव

अव यह देखते है कि दिक्परिमाण व्रत धारण करने पर श्रावक के मूल व्रतो मे किस प्रकार क्या विशेषता आती है? इसके लिए पहले श्रावक के स्थूल अहिंसा व्रत के सम्वन्ध मे विचार करते हैं। अपने सांसारिक जीवन को दृष्टि में रख कर श्रावक स्थूल अहिंसा व्रत ही स्वीकार करता है।

स्थूल अहिंसा व्रत स्वीकार और स्थूल हिंसा का त्याग करते हुए श्रावक लोग जिस आरम्भजा हिंसा का आगार रखते हैं, वह आगार सभी स्थानो के लिए खुला हुआ है। इस आगार की स्थूल अहिंसा व्रत मे सीमा नही की है, परन्तु दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस आगार की भी सीमा हो जाती है। अर्थात् स्थूल अहिंसा व्रत के आगार मे जो आरम्भजा हिंसा रखी गई है, वह आरम्भजा हिंसा दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर असीम नही रहती, किन्तु केवल उतने ही स्थान के लिए रह जाती है, जितना

स्थान दिक्परिमाण व्रत में गमनागमन के लिए रखा गया है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते समय गमनागमन के लिए रखी गई सीमा के बाहर की आरम्भजा हिंसा भी छूट जाती है और इस प्रकार दिक्परिमाण के द्वारा व्रत स्वीकार करने पर श्रावक स्वीकृत अहिंसाव्रत की मर्यादा विस्तृत तथा आगार मे रखी गई आरम्भजा हिंसा का क्षेत्र परिमित हो जाता है।

श्रावक का दूसरा मूलव्रत स्थूल सत्य है। इस व्रत का रूप भी पहले बताया जा चुका है। इस व्रत को स्वीकार करने वाला श्रावक स्थूल झूठ का तो सभी क्षेत्र के लिए त्याग करता है, परन्तु गृहस्थावस्था के कारण वह जिस सूक्ष्म झूठ का त्याग नही कर सका है, वह सूक्ष्म झूठ सभी क्षेत्र के लिए खुला हुआ है। आगार मे रहे हुए सूक्ष्म झूठ के विषय मे क्षेत्र की कोई मर्यादा नही है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस विषय की मर्यादा हो जाती है अर्थात् जो सूक्ष्म झूठ नही त्यागा गया है, वह सूक्ष्म झूठ भी केवल उसी क्षेत्र के लिए शेष रह जाता है, जो क्षेत्र गमनागमन के लिए दिक्परिमाण व्रत मे रखा गया है। उसके सिवा शेष क्षेत्र मे जाकर सूक्ष्म झूठ बोलने का त्याग हो जाता है।

श्रावक का तीसरा मूलव्रत स्थूल चोरी से निवृत्त होना है। श्रावक स्थूल चोरी का त्याग तो सभी क्षेत्र के लिए करता है, परन्तु सूक्ष्म चोरी सभी क्षेत्र के लिए खुली हुई है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर वह सूक्ष्म चोरी भी सीमित होकर केवल उतने ही क्षेत्र के लिए रह

जाती है, जितना क्षेत्र दिक्परिमाण व्रत में गमनागमन के लिए रखा गया है।

श्रावक का चौथा मूलव्रत स्वदार सन्तोष और परदार विवर्जन है। श्रावक यह व्रत भी स्थूल रूप से ही स्वीकार करता है क्योकि गृहस्थावास मे रहते हुए श्रावक परदार का त्याग भी एक देश से ही कर सकता है, सर्वथा अर्थात् त्रिकरण त्रियोग से नही कर सकना। उसे अपनी सन्तान को अनीति–मार्ग से बचाने के लिए नीति मार्ग मे जोडना ही पडता है। श्रावक पर–स्त्री का जो त्याग करता है, वह त्याग तो सभी क्षेत्र के लिए है, परन्तु स्व-स्त्री का जो त्याग नही कर सका है, वह स्वस्त्री का सम्बन्ध सभी क्षेत्र के लिए खुला हुआ है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर स्व–स्त्री का क्षेत्र भी सीमित हो जाता है। यानी मर्यादित क्षेत्र के बाहर जाकर स्वदार के साथ न तो दाम्पत्य व्यवहार कर सकता है, न किसी को अपनी पत्नी ही बना सकता है। इस प्रकार दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस चौथे व्रत मे भी प्रशस्तता आती है।

श्रावक का पाचवां मूलव्रत परिग्रह–परिमाण है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर इस व्रत मे भी प्रशस्तता आ जाती है क्योकि दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर श्रावक मर्यादित परिग्रह का रक्षण अथवा उसकी पूर्ति उसी क्षेत्र मे रहकर कर सकता है जो क्षेत्र उसने दिक्परिमाण व्रत मे गमनागमन के लिए रखा है। उस क्षेत्र के बाहर जाकर न तो मर्यादित परिग्रह की रक्षा ही कर सकता है, न उसकी पूर्ति के लिए व्यवसाय ही कर सकता है। इसके सिवा जब तक दिक्परिमाण द्वारा क्षेत्र की सीमा नही की

जाती, तब तक तृष्णा का क्षेत्र भी सीमित नही होता और क्षेत्र सीमित न होने से तृष्णा बढती ही जाती है। इस प्रकार दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने पर श्रावक का पाचवां मूलव्रत भी प्रशस्त हो जाता है।

३—दिग्व्रत की विधि

दिक्परिमाण व्रत का श्रावक के पाचो मूलव्रतो पर कैसा सुप्रभाव पड़ता है, यह बताया जा चुका है। अब यह देखते हैं कि दिक्परिमाण व्रत स्वीकार किस तरह किया जाता है। दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने के लिए किसी एक स्थान को केन्द्र बना कर उस स्थान से प्रत्येक दिशा के लिए यह मर्यादा करनी चाहिए कि मैं अमुक दिशा मे इस स्थान से इतनी दूर से अधिक न जाऊंगा। ऊर्ध्व दिशा के लिए यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं अमुक केन्द्र स्थान से वृक्ष, पहाड, घर महल पर अथवा हवाई जहाज द्वारा या और किसी तरह ऊपर की ओर इतनी दूर से अधिक दूर न जाऊगा। अधो दिशा के लिए यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं केन्द्र स्थल से नीचे की ओर जल, स्थल, खदान भूमिगृह आदि मे इतनी दूर से अधिक नीचा न जाऊंगा। तिर्यक् दिशा-पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण और ईशान, आग्नेय, नैऋत्य तथा वायव्य के लिए भी ऐसी ही प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं पूर्वादि अमुक दिशा और ईशानादि अमुक विदिशा मे केन्द्र स्थल से इतनी दूर से अधिक न जाऊगा। इस तरह अपने गमनागमन के क्षेत्र को सीमित बनाने की प्रतिज्ञा का नाम दिक्परिणाम व्रत है, जो ऊपर बताई गई रीति से धारण किया जाता है।

दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने वाले के लिए यह प्रतिबन्ध नही है कि किसी स्थल विशेष को ही केन्द्र बनाया जावे और वही से गमनागमन विषयक मर्यादा की जावे। यह बात व्रत स्वीकार करने वाले की इच्छा और सुविधा पर निर्भर है। व्रत स्वीकार करने वाला यदि चाहे तो जहा व्रत स्वीकार कर रहा है उसी स्थान को केन्द्र मान सकता है, जहा रहता है उस स्थान को केन्द्र मान सकता है, अथवा किसी दूसरे स्थान विशेष को भी केन्द्र मान सकता है। इसी प्रकार वह इस बात के लिए भी स्वतन्त्र है कि किसी दिशा मे आवागमन का क्षेत्र कम रखे और किसी मे अधिक।

गमनागमन का परिमाण कोस, मील, हाथ, फुट, इ च के रूप मे भी कर सकता है और इस तरह भी कर सकता है कि मैं अमुक दिशा मे अमुक देश, प्रदेश, नगर, ग्राम, पहाड, नदी, वन आदि से आगे नही जाऊ गा। अथवा इस तरह भी कर सकता है कि मैं माने हुए अमुक केन्द्र स्थल से अमुक दिशा मे इतने दिन या इतने समय मे पैदल अथवा अमुक वाहन से जितनी दूर तक जा सकू, उससे आगे नही जाऊ गा। इस प्रकार जिसकी जैसी इच्छा हो, वह उस तरह से दिक्परिमाण व्रत स्वीकार कर सकता है, लेकिन यह व्रत स्वीकार करते हुए जो व्यक्ति गमनागमन की सीमा जितनी भी कम रखेगा, उसका व्रत उतना ही अधिक प्रशस्त होगा और उसके मूल व्रतो को भी अधिक लाभ पहुचेगा। इसलिए जहा तक सम्भव हो, दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते हुए मर्यादा मे गमनागमन का क्षेत्र कम ही रखना अच्छा है।

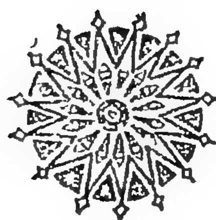
दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते हुए, अपनी स्थिति आवश्यकता तथा शक्ति का विचार अवश्य कर लेना चाहिए और जीवन-निर्वाह के लिए जितना क्षेत्र गमनागमन के लिए रखना आवश्यक है, उतने क्षेत्र के सिवा शेष क्षेत्र में गमनागमन करने का त्याग करना चाहिए। केवल लालसा-वश गमनागमन के लिए अधिक क्षेत्र सीमा मे रखना उचित नही है।

दिक्परिमाण व्रत जीवन भर के लिए ही स्वीकार किया जाता है। केवल अहोरात्रि या कम समय के लिए की गई गमनागमन की मर्यादा की गणना दसवे व्रत मे होगी।

दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करने वाले को वृत्ति का सकोच और ममत्व का त्याग करना पडता है। विना ऐसा किये इस व्रत की रक्षा नही हो सकती। इस व्रत की रक्षा के लिए समय पर व्रतधारी को हानि भी सहन करनी पडती है। उदाहरण के लिए किसी दिक्परिमाण व्रतधारी का कोई वस्त्र या आभूषण मनुष्य पशु पक्षी या देव उठा ले गया अथवा पवन से उड गया, वह वस्त्र या आभूषण ऐसे स्थान पर रखा या पडा हुआ है, जो उस व्रतधारी द्वारा मर्यादा में रखे गये क्षेत्र से बाहर है। यद्यपि वह व्रतधारी श्रावक अपने उस वस्त्र या आभूषण को पडा या रखा हुआ देख रहा है फिर भी वह उस वस्त्र या आभूषण को लाने के लिए नही जा सकता।

यह वात दूसरी है कि वह वस्त्र या आभूषण जिस तरह से गया था, उसी तरह अथवा किसी दूसरी तरह

मर्यादित क्षेत्र मे आ जावे और वह व्रतधारी श्रावक अपनी उस चीज को ले ले, लेकिन उस चीज को लाने के लिए वह अपनी मर्यादा के क्षेत्र से बाहर कदापि नही जा सकता और यदि जाता है तो वह अपना व्रत तोड़ता है। इस प्रकार इस व्रत का पालन करने मे कठिनाइया भी सहनी पडती हैं। परन्तु जो उन कठिनाइयो को सहता है, जो अपनी वृत्ति का सकोच करता है और ममत्व का त्याग करता है, वही इस व्रत का पालन करने मे समर्थ हो सकता है। साथ ही जो इस व्रत का पूरी तरह पालन करता है है, उसकी वृत्ति भी सकुचित होती जाती है तथा उसमे ममत्व-त्याग की क्षमता भी बढती जाएगी।



दिक्परिमाण व्रत के अतिचार

तीर्थंकर भगवान् ने दिक्परिमाण व्रत के पाच अति-चार बताये हैं, जो जानने योग्य है किन्तु आचरण करने योग्य नही हैं। प्रश्न होता है कि अतिचार कहते किसे हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जो त्याग किया जाता है, उस त्याग का पालन करते हुए प्रसग विशेप से परिमाण की धाराओ मे परिवर्तन होकर जो स्खलना होती है, उसको सामान्य और विशेष भेद के कारण अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार भागो मे विभक्त किया गया है। किसी भी त्यागे हुए कार्य या पदार्थ के विषय मे परिणामो मे मलिनता आना और उस कार्य या पदार्थ को अपनाने का मन मे संकल्प करना, यह अतिक्रम है। उस मन के सकल्प को मूर्त स्वरूप देने का प्रयत्न करना-सामग्री जुटाना आदि-व्यतिक्रम कहा जाता है। इस तरह के प्रयत्न मे मूर्छित होना और ऐसा कार्य करना कि जिससे व्रत का भंग समीप हो जाय, अतिचार कहलाता है और उस त्यागे हुए कार्य को कर डालना, अथवा त्यागे हुए पदार्थ को स्वीकार कर लेना तथा इस तरह व्रत भग कर डालना, अनाचार है। अतिचार की शुद्धि तो प्रायश्चित्त लेने एव

पुनः व्रत स्वीकार करने से ही होती है, लेकिन अनाचार, अतिचार के पश्चात् होता है, इसलिए भगवान् ने अतिचार का रूप वता कर व्रतधारी को इस बात की सावधानी दी है कि इन अतिचारो को समझ कर इनसे बचते रहना चाहिए, अन्यथा कभी अनाचार होना और व्रत का टूट जाना स्वाभाविक है। भगवान् ने आनन्द आदि श्रावको को सम्वोधन करके प्रत्येक व्रत के अतिचार वताये हैं। इस दिक्परिमाण व्रत के भी भगवान् ने, पाच अतिचार कहे हैं।

(१) पहला अतिचार ऊर्ध्व दिक्परिमाणातिक्रम है। ऊर्ध्व दिशा मे गमनागमन करने के लिए जो क्षेत्र मर्यादा मे रखा है, उस क्षेत्र का जानबूझ कर नही, किन्तु अनजान मे भूल से उल्लघन हो जाना, वह ऊर्ध्व दिशि परिमाणातिक्रम है।

(२) दूसरा अतिचार अधो दिशि परिमाणातिक्रम है। नीची दिशा के लिए किये गये परिमाण का जान बूझ कर नही, किन्तु भूल या असावधानी से उल्लंघन हो जाय, वह अधो दिशि परिमाणातिक्रम है।

(३) तीसरा अतिचार तिर्यक्दिशि परिमाणातिक्रम है। तिर्यक्दिशा-पूर्व पश्चिम आदि के लिए गमनागमन का जो परिमाण किया है, उस परिमाण का भूल या असावधानी से उल्लघन करना, तिर्यक्दिशि परिमाणातिक्रम है।

(४) चौथा अतिचार क्षेत्रवृद्धि है। इस अतिचार का अर्थ यह है कि एक दिशा के लिए की गई सीमा को कम करके उसे दूसरी दिशा की सीमा मे जोड कर दूसरी

दिशा की सीमा वढा लेना । उदाहरण के लिए, किसी व्यक्ति ने व्रत लेते समय पूर्व दिशा में गमनागमन करने की मर्यादा ५० कोस की रखी है परन्तु कुछ दिनो के अनुभव के पश्चात् उसने सोचा कि मुझे पूर्व दिशा में ५० कोस जाने का काम नही पडता है और पश्चिम दिशा मे मुझे सीमा मे रखी गई मर्यादा से अधिक जाना है । इसलिए पूर्व दिशा के लिए रखे गये ५० कोस मे कुछ कोस कम करके पश्चिम दिशा की मर्यादा वढा दू । इस तरह सोच कर यदि कोई व्यक्ति अपना मर्यादित क्षेत्र ऊपर वताई गई रीति से वढाता है, तो यह क्षेत्रवृद्धि अतिचार है । यद्यपि ऐसा करने मे उसने एक दिशा का क्षेत्र घटा दिया है, फिर भी अतिचार है, क्योकि उसको अपना मर्यादित क्षेत्र घटाने का अधिकार तो है, लेकिन दिशा विशेष के नाम पर जो मर्यादा की गई है, उस मर्यादित क्षेत्र मे वृद्धि करने का अधिकार नही है । इस कारण एक ओर का क्षेत्र घटा कर उसके वदले दूसरी ओर का क्षेत्र वढाना, व्रत की अपेक्षा होने के कारण अतिचार है ।

(५) पाचवाँ अतिचार स्मृतिभ्रंश है । क्षेत्र की मर्यादा को भूल कर मर्यादित क्षेत्र से आगे वढ जाना, अथवा 'मैं शायद अपनी मर्यादित क्षेत्र की दूरी तक तो चल चुका होऊंगा' ऐसा विचार होने के पश्चात् भी निर्णय किये विना आगे वढ जाना, स्मृतिभ्रंश अतिचार है ।

इन पाच अतिचारो को समझ कर व्रत की रक्षा के लिए इनसे वचते रहना चाहिए । ऐसा करने वाला व्यक्ति ही, दिक्परिमाण व्रत का पूरी तरह पालन कर सकता है और मूल व्रत मे गुण उत्पन्न कर सकता है ।

उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत

तीन गुणव्रत मे से दूसरा और श्रावक के बाहर व्रतो मे से सातवा व्रत उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत है। दिक्परिमाण व्रत धारण करने के पश्चात् इस व्रत को धारण करने की क्या आवश्यकता है ? यह बताने के लिए कहा गया है कि पाच मूल व्रत धारण करने वाले श्रावक के लिए, उन व्रतो की रक्षा एव उनकी वृद्धि के उद्देश्य से, वृत्ति का सकोच करना आवश्यक है। वृत्ति का सकोच करने के लिए ही दिक्परिमाण व्रत स्वीकार किया जाता है, लेकिन इस व्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर का क्षेत्र एव वहा के पदार्थादि से ही निवृत्ति होती है। मर्यादित क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थों का उपभोग-परिभोग उसके लिए सर्वथा खुला हुआ है। मर्यादित क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थों के उपभोग परिभोग की कोई सीमा-मर्यादा नही है, जिससे जीवन अनियमित रहता है और जिसका जीवन अनियमित है, उसके मूल व्रत भी निर्मल नही रह सकते। इस बात को दृष्टि मे रख कर ही यह सातवा व्रत बताया गया है। इस व्रत के स्वीकार करने पर, छठे व्रत द्वारा मर्यादित क्षेत्र मे रहे हुए पदार्थों के उपभोग-परिभोग की मर्यादा हो जाती

है और इस प्रकार वृत्ति का संकोच होता है ।

जीवन-निर्वाह के लिए अथवा शारीरिक सुख के लिए, पदार्थों का सेवन करना उपभोग-परिभोग कहलाता है । जो वस्तु एक ही वार काम मे लाई जा सकती है, एक वार काम में आ चुकने के पश्चात् तत्काल या समयान्तर में पुन काम मे नही लाई जा सकती, वह चीज उपभोग मानी गई है । ऐसी चीज को काम में लेना उपभोग कहलाता है ।

उपभोगः सकृद्भोगः स चाशनपानानुलेपनादीनां ।

टीकाकार का कहना है, कि जो एक वार भोगा जा चुकने के पश्चात् फिर न भोगा जा सके, उस पदार्थ को भोगना-काम मे लेना उपभोग है । जैसे एक बार जो भोजन खाया जा चुका है, या जो पानी एक वार पीया जा चुका है, वह फिर खाया-पीया नही जा सकता । अथवा अगरचना या विलेपन की जो वस्तु एक वार काम मे आ चुकी है, वह फिर काम मे नही आ सकती । इसी तरह जो वस्तु एक वार काम मे आ चुकने के पश्चात् फिर काम मे नही आती, उन वस्तुओ को काम मे लेना, उपभोग कहलाता है । इसके विरुद्ध जो वस्तु एक वार से अधिक वार काम मे ली जा सकती है, उस वस्तु को काम मे लेना, परिभोग कहलाता है । इसके लिए टीकाकार कहते है—

परिभोगस्तु पुनर्पुनः भोग स चासन-शयन-वसन-वनितादीना ।

टीकाकार कहते हैं कि जो वस्तु फिर-फिर भोगी जा सके, उसको भोगना, परिभोग है । जैसे आसन, शैया, वस्त्र,

वनिता आदि ।

उपभोग परिभोग की व्याख्या इस तरह भी की जा सकती है कि जो चीज शरीर के आन्तरिक भाग से भोगी जा सकती है, उसको भोगना उपभोग है और जो चीज शरीर के बाहरी भागो से भोगी जा सकती है, उस चीज को भोगना परिभोग है । ऐसी उपभोग्य और परिभोग्य वस्तुओ के विषय मे यह मर्यादा करना कि मैं अमुक-अमुक वस्तु के सिवा शेष वस्तुए उपभोग-परिभोग मे नही लू गा, इस मर्यादा को उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत कहा जाता है । इस व्रत का उद्देश्य है, शारीरिक आवश्यकताओ को मर्यादित करना । जिसकी शारीरिक आवश्यकताए जितनी अधिक होगी, उसको उन्हे पूरी करने के लिए उतनी ही अधिक प्रवृत्ति करनी पडेगी और उतना ही अधिक पाप करना पड़ेगा । इसके विरुद्ध जिसकी आवश्यकताए जितनी कम होगी, उसे उतनी प्रवृत्ति भी नही करनी पडेगी । वह दूसरे धर्म-कार्य के लिए समय भी बचा सकेगा और अधिक पाप से बचा रह सकेगा ।

यद्यपि शरीरधारियो के लिए भोजनादि वस्तु का उपभोग परिभोग आवश्यक माना जाता है, लेकिन वह उपभोग परिभोग दो कारणो से होता है । एक तो शरीर की रक्षा के लिए अनिवार्य आवश्यकता मिटाने के लिए और दूसरा अनिवार्य आवश्यकता के बिना ही, केवल शारीरिक सुख के लिए यानी विषयजन्य सुख की प्राप्ति के लिए । इन दोनो कारणो मे से, दूसरे कारण से किया जाने वाला उपभोग परिभोग सर्वथा त्यागना चाहिए और अनिवार्य कारण से किए जाने वाले उपभोग परिभोग के लिए यह

मर्यादा करनी चाहिए कि मैं शरीर रक्षा के लिए केवल अमुक-अमुक पदार्थों का ही उपभोग परिभोग करूंगा, शेप का नही । इस प्रकार इस व्रत का उद्देश्य-विषयजन्य सुख के लिए पदार्थों का उपभोग-परिभोग यथाशक्ति सर्वथा त्यागना और शरीर-रक्षा के लिए उपभोग-परिभोग मे लिये जाने वाले पदार्थों की मर्यादा करना है ।

उपभोग मे आने वाली वस्तुएं, प्रधानत अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य इन चार भागो मे विभक्त हैं । जिन वस्तुओ का शरीर-रक्षा के लिए खाना आवश्यक माना जाता है, अथवा क्षुधा मिटाने के लिए जो चीजे खाई जाती है, उन चीजो की गणना अशन मे है । अशन से मतलब पूर्ण भोजन है ।

जो वस्तुए दातो से चबाये विना ही पी जाती हैं, उन पेय वस्तुओ का पीना 'पान' कहलाता है । जो वस्तुए उपभोग यानी नाश्ता के रूप मे खाई जाती हैं, उनकी गणना खाद्य मे है और जो वस्तुए केवल स्वाद के लिए अथवा मु ह साफ करने के नाम पर खाई जाती है, उनकी गणना स्वाद्य मे है ।

अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य मे विशेषत कौन-कौनसी चीजे त्याज्य हैं, यह बताते हुए कहा गया है कि अशन मे आलू, मूला, कादा, लहसुन और मास ❀ आदि भ्रष्ट पदार्थ त्याज्य हैं । पेय पदार्थों मे मांस-मदिरा आदि

❀ श्री रत्नप्रभसूरि ने जब ओसवाल समाज की स्थापना की थी, तब सर्व प्रथम मास-मदिरा का त्याग कराया था । तब से ओसवाल जैन समाज मासाहारी नही

त्याज्य है। खाद्य यानी फलादि मे गूलर, वड, पीपल, पिलंगू, अजीर आदि वे फल त्याज्य है, जिनमे वीज बहुत होते है और त्रसजीव भी उत्पन्न हो जाते है। इसी प्रकार स्वाद्य मे भी वे वस्तुएं त्याज्य हैं, जो ऊपर बताई गई चीजो से मिलती जुलती हैं। मतलव यह है कि श्रावक को ऐसा

है और अभी भी जाति का यह नियम है कि कोई भी ओसवाल मास-भक्षण या मदिरा पान न करे। इस प्रकार वर्तमान समय मे जैन धर्मी कहलाने वाले लोगो के घरो मे मास मदिरा का सेवन तो प्राय नही किया जाता है, लेकिन ऐसे लोगो के घरो मे भी आजकल ऐसी भ्रष्ट चीजो को काम मे लिया जाने लगा है जो प्रकारान्तर से मास-मदिरा ही हैं। उदाहरण के लिए रोगमुक्त होने के लिए अथवा शरीर को सशक्त वनाने के लिए उन अंग्रेजी दवाइयो को खाना, पीना जो मास और मदिरा की श्रेणी मे हैं। अंग्रेजी दवाइयो मे प्राय भ्रष्ट पदार्थो के सत अथवा शराब आदि का समिश्रण रहता ही है और कई दवाइयां तो ऐसी होती हैं कि जिनका नाम ही स्पष्ट निर्देश करता है कि यह दवा ऐसी है, जो श्रावक के लिए किसी भी दशा मे खाने या पीने के योग्य नही है। जैसे कॉडलीवर आइल, Codliver oil हेमोग्लोविन Hoemoglovin वकरे का लीवर Goat's Liver और बन्दर का ग्लैण्ड Monkey's Glands Etc आदि। ऐसी भ्रष्ट चीजो का उपभोग विशेषत आलस्य अथवा परिस्थिति का ज्ञान न करके आरम्भ समारम्भ छोड वैठने या उससे वचने के नाम पर होता है, लेकिन इस प्रयत्न मे अल्प पाप के वदले महापाप हो जाता है और श्रावक के लिए पहले महापाप ही त्याज्य है।

अशन, पान खाद्य और स्वाद्य सर्वथा त्याग देना चाहिए, जो लौकिक दृष्टि से निन्द्य तथा लोकोत्तर दृष्टि से महापाप युक्त हो और ऐसे अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य द्वारा ही जीवन का निर्वाह करना चाहिए, जो लौकिक दृष्टि से निन्द्य तथा लोकोत्तर दृष्टि से महापाप पूर्ण न हो, जिसके बिना जीवन का निर्वाह नही हो सकता हो, जो स्वास्थ्य के लिए भी लाभप्रद हो और प्रकृति को सात्विक बनाने वाला हो।

जैसा आहार-संयम श्रावक के लिए जैन दर्शन मे बताया गया है, लगभग वैसा ही आहार-सयम अन्य दर्शन-कार भी बताते हैं। गीता मे तीन प्रकार की प्रकृति बताते हुए कहा गया है कि किस प्रकृति वाला कैसा भोजन करता है, अथवा कैसे भोजन से कैसी प्रकृति बनती है। सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का रूप बता कर त्रिगुणातीत होने का उपदेश दिया गया है तथा यह कहा गया है कि यदि कोई व्यक्ति त्रिगुणातीत नही हो सकता है तो उसके लिए सात्विक प्रकृति की अपेक्षा राजस प्रकृति और राजस प्रकृति की अपेक्षा तामस प्रकृति त्याज्य है। इस प्रकार इस कथन द्वारा उस आहार का भी निषेध किया गया है, जो राजस या तामस प्रकृति बनाने वाला है।

कौनसा भोजन किस प्रकृति का उत्पादक या पोषक है, यह बात ग्रन्थो मे विस्तारपूर्वक बताई गई है। ग्रन्थो मे कहा गया है कि जिससे बल, उत्साह, आयु और सहन-शीलता की वृद्धि हो, जो रसमय स्निग्ध स्वादयुत एवं धातु-पोषक हो, वह आहार सात्विक है। जो कडुआ, खट्टा, क्षारयुक्त, उष्ण और दाहक हो तथा जो अहकार की वृद्धि

करे, वह आहार राजस है। जो रसहीन, उच्छिष्ट, वासी तथा विगडा हुआ हो और जो क्रोधादि का उत्पादक हो, वह आहार तामस है।

भोजन से मन, वाणी और स्वभाव का पूर्ण सम्वन्ध है। जो जैसा भोजन करता है, उसके मन, वाणी और स्वभाव मे वैसा ही सद्गुण या दुर्गुण आता है। व्यवहार मे भी कहावत है कि 'जैसा आहार होता है, वैसा विचार, उच्चार और व्यवहार भी होता है।' इस प्रकार आहार पर संयम रखना आवश्यक है और ऐसे आहार से वचे रहना भी आवश्यक है, जो विकृति उत्पन्न करने वाला है, जिसके लिए महान् पाप हुआ या होता है और जो लोक मे निन्द्य माना जाता है।

श्रावक को यथासम्भव सचित्त वस्तु भोगने का त्याग करना चाहिए। सचित्त का अर्थ है सजीव, यानी जीव सहित। जिसमे चित् शक्ति मौजूद है, उसे सचित्त कहते हैं, जैसे कच्चा हरा साग, विना पीसा हुआ या विना पकाया हुआ अन्न और जिनमे अंकुर उत्पन्न होने की शक्ति है, वे वीज। इसी प्रकार विना पकाया हुआ या असंस्कृत पानी भी सचित्त है। श्रावक के लिए उचित है कि जहा तक भी सम्भव हो, ऐसे अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग करना चाहिए, जो सचित्त हो। यद्यपि ऐसा न करने वाला श्रावक श्रावकत्व से गिरता नही है, लेकिन सचित्त का त्याग करना, श्रावकत्व को प्रशस्तता देना है। इसलिए जहा तक हो सके, श्रावक को सचित्त आहार का त्याग करना चाहिए। सचित्त का त्याग करने मे, श्रावको को

किसी बड़ी कठिनाई का सामना भी नहीं करना पड सकता क्योंकि गृहस्थ श्रावक साधन-सम्पन्न होता है और जब तक उसने आरम्भजा हिंसा को नही त्यागा है, तब तक उसके लिए भोजन पानी पकाने यानी अचित्त बनाने का भी निषेध नहीं है। बल्कि शास्त्र मे भी जहां श्रावक के भोजनादि का वर्णन है, वहां यह स्पष्ट कहा गया है कि—

असणं पाणं खाइमं साइमं उवक्खडावेइ उवक्खडावेइत्ता।

अर्थात्—अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य निपजा कर यानी बना कर भोगा।

इस प्रकार श्रावक, भोजन पानी आदि को अपने उपभोग मे लाने के योग्य बनाने मे स्वतंत्र है। इसलिए श्रावक को अपना श्रावकत्व प्रशस्त करने के लिए जहां तक भी सम्भव हो, सचित्त अशन, पान, खाद्य और स्वाद्य का त्याग करना उचित है।

साधारणतया, श्रावक का खान-पान सादा और सात्विक ही होना चाहिए। इस उपभोग परिभोग परिमाण व्रत का उद्देश्य भी यही है कि श्रावक ऐसा ही भोजन पानी अपने काम मे ले जो सादा सात्विक और जीवन-निर्वाह के लिए आवश्यक हो तथा ऐसा भोजन पानी आदि त्याग दे, जो विकारी और सात्विक प्रकृति का नाश करने वाला हो। सातवां व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक को यह बात दृष्टि मे रख कर ही खान-पान विषयक मर्यादा करनी चाहिए और जो लोग एक दम से स्वाद के लिए किया जाने वाला या सचित्त खान-पान नही त्याग करते, उनको अपनी शक्ति अनुसार मर्यादा करके अपनी असीम लालसा सीमित

कर देनी चाहिए। लेकिन ऐसे श्रावक का भी ध्येय यही रहना चाहिए कि मैं स्वाद के लिए किया जाने वाला या सचित्त खान-पान का पूर्ण त्यागी बनूं और इस प्रकार इस सातवे व्रत का उद्देश्य पूर्ण करूं।

खान-पान में आने वाले पदार्थों की तरह उन दूसरे पदार्थों के विषय मे भी मर्यादा करनी चाहिए, जो उपभोग मे आते है। इसी तरह परिभोग मे आने वाले पदार्थों के लिए भी यह मर्यादा करनी चाहिए कि मैं अमुक-अमुक परिभोग वस्तुओ के सिवा दूसरी वस्तुएं परिभोग मे न लूगा। इस प्रकार की जाने वाली मर्यादा मे केवल उन्ही वस्तुओ की छूट रखना उचित है, जिनका परिभोग जीवन-रक्षा के लिए अनिवार्य है।

परिभोग्य पदार्थों में उन सब पदार्थों की गणना है, जो शरीर को स्वच्छ, सुन्दर, सुवासित या विभूषित बनाते हैं, अथवा जो शरीर को आच्छादित रखते हैं या शरीर के लिए आनन्ददायी माने जाते हैं। दातुन करना, मुह धोना, तेल उबटन लगाना, स्नान करना, वस्त्राभूषणपरिधान, पुष्पमाला धारण करना, केसर इत्र आदि सुगन्धित द्रव्य का विलेपन करना, छाता लगाना, जूता पहनना, रथादि वाहन पर बैठना, आसन शैया का उपयोग करना आदि कामो की गणना परिभोग मे है। संक्षेप मे, घ्राणेन्द्रिय श्रोत्रेन्द्रिय और स्पर्शेन्द्रिय द्वारा अनेक बार भोगी जाने वाली चीजो को भोगना, परिभोग है। कई वस्तुए ऐसी हैं कि जिनका भोगना उपभोग मे भी माना जा सकता है और परिभोग मे भी लेकिन किसी मे भी मान कर उन सब वस्तुओ को

भोगने का त्याग करना चाहिए, जिनके भोगे बिना भी व्रतधारी अपना कार्य चला सकता है, जीवन निर्वाह कर सकता है। साथ ही उन वस्तुओ की मर्यादा करनी चाहिए, जिनका भोगना व्रतधारी अपने लिए अनिवार्य मानता है। यानि यह प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि मैं उपभोग और परिभोग में आने वाली वस्तुओं मे से अमुक-अमुक वस्तु सर्वथा न भोगू गा, अमुक वस्तु इतनी बार से अधिक बार काम में नही लाऊंगा, इतने समय से पूर्व या पश्चात् की बनी हुई चीज का उपयोग नही करूंगा, अमुक समय पर ही अमुक वस्तु काम मे लू गा, उसके पहले या पीछे काम मे न लू गा, और अमुक वस्तु इतने समय तक ही काम मे लूंगा, इस समय के पश्चात् काम मे न लू गा। इस तरह वस्तु के उपभोग और परिभोग के लिए द्रव्य, क्षेत्र और काल से मर्यादा करने का नाम ही उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत है।

उपभोग और परिभोग मे आने वाली वस्तुओ को, शास्त्रकारों ने २६ बोलो मे संग्रह कर दिया है। प्राय वे सभी उपभोग्य परिभोग्य वस्तुएं इन २६ बोलो मे आ गई है, जिनका उपयोग करना जीवन के लिए आवश्यक माना जाता है। इन २६ बोलो का आधार मिल जाने से व्रत लेने वाले को बहुत सुगमता होती है। वह इस बात को समझ जाता है कि जीवन के लिए प्रधानतः किन-किन वस्तुओं का उपभोग-परिभोग आवश्यक है और यह समझने के कारण वह वैसी चीजों को मर्यादा मे रखना नही भूलता, जिससे उसे किसी समय कठिनाई का सामना नही करना पडता। शास्त्रकारो द्वारा बताये गये वे २६ बोल नीचे दिये जाते हैं –

(१) उल्लणियाविहि परिमाण —मनुष्य जब प्रातः-काल उठ कर शौचादि से निवृत्त हो हाथ मुह धोता है, तब उसे हाथ मुंह पौछने के लिए गीले वस्त्र की आवश्यकता होती है। वर्तमान समय मे ऐसा वस्त्र रुमाल टुवाल आदि कहा जाता है। ऐसे वस्त्र की मर्यादा करना।

कई लोग ऐसा वस्त्र रखना शौक या फैशन मे मानते है, परन्तु वास्तव मे ऐसा वस्त्र जीवन-सहायिका सामग्रियो मे से एक है। हाथ-मुह पोछने के लिए अलग वस्त्र न रख कर पहने हुए कपड़ो से अथवा अस्वच्छ वस्त्र से हाथ मुह आदि पौछना हानिप्रद है। ऐसा करने से या तो पहने हुए वस्त्र खराब होते है, अथवा मलिन वस्त्र के परमाणु शरीर मे प्रविष्ट होकर रोग उत्पन्न करते हैं। इसलिए स्वास्थ्य की दृष्टि से हाथ-मुंह आदि पोछने के लिए एक विशेष वस्त्र रखना उचित है। वह वस्त्र कैसा हो, यह बात आनंद श्रावक के वर्णन से प्रकट है। आनन्द श्रावक ने इस सातवे व्रत के सम्बन्ध मे जो मर्यादा की थी, उसमे उसने हाथ मुह पोछने के लिए ऐसा वस्त्र रखा था, जो रगीन और सुवासित था तथा जिसके स्पर्श से आलस्य उडकर स्फूर्ति आती थी।

(२) दन्तवणविहि परिमाणः—रात के समय सोये हुए मनुष्य के मुख मे, श्वासोच्छ्वास के वायु द्वारा जो विकृत पुद्गल एकत्रित हो जाते हैं, उनको साफ करने के लिए दन्तधावन किया जाता है। उस दन्तधावन से सम्बन्धित पदार्थों के विषय मे मर्यादा करना दन्तवणविहि-परिमाण कहलाता है।

(३) फलविहि परिमाणः—दातुन करने के पश्चात् मस्तक और वालो को स्वच्छ तथा शीतल किया जाता है। ऐसा करने के लिए जिन वस्तुओ की आवश्यकता होती है, उनके सम्वन्ध मे मर्यादा करना फलविहि-परिमाण कहा जाता है।❀

(४) अभ्यगणविहि परिमाणः-त्वचा सम्बन्धी विकारो को दूर करने और रक्त को सभी अवयवो में पूरी तरह सचारित करने के लिए जिन तैलादि द्रव्यो का शरीर पर मर्दन किया जाता है, उन द्रव्यो की मर्यादा करना अभ्यगणविहि परिमाण है।

(५) उवटण विहि परिमाण—शरीर पर लगे हुए तेल की चीकट तथा मैल को हटाने और शरीर मे स्फूर्ति तथा शक्ति लाने के लिए उवटन (पीठी) लगाया जाता है। उस उवटन के सम्वन्ध मे मर्यादा करना।

❀ मस्तक को स्वच्छ तथा शीतल रखने से बुद्धि विकसित होती है और विकार शात रहते हैं, लेकिन आज कल के अनेक नवयुवक मस्तक को स्वच्छ शात रखने के लिए शक्तिवर्द्धक फलो के वदले अंग्रेजी सेण्ट तेल आदि ऐसी चीजो का उपयोग करते हैं, जिनसे बुद्धि विकृत होती है, मस्तक अशात होता है और विकार उत्तेजित होते हैं। मस्तक को स्वच्छ करने के लिए आवला त्रिफला आदि फल जैसे उपयोगी माने जाते हैं, वैसे उपयोगी विलायती सेण्ट तेल आदि नही हो सकते वल्कि विलायती सेण्ट आदि चीजें हानिप्रद होती हैं। इसलिए श्रावक को ऐसी चीजें काम मे न लेनी चाहिये।

(६) मज्जणविहि परिमाणः—इस वोल में स्नान-विधि का परिमाण करना वताया है। अभ्यङ्गन और उवटन के पश्चात् स्नान किया जाता है। उसके सम्बन्ध मे यह मर्यादा करना कि इतनी वार से अधिक वार स्नान नही करूगा, अथवा स्नान मे अमुक प्रकार के इतने जल से अधिक जल व्यय न करूगा।

(७) वत्थविहि परिमाण—स्नान के पश्चात् वस्त्र परिधान किया जाता है। उन वस्त्रो के विषय मे मर्यादा करना कि मैं अमुक-अमुक तरह के इतने वस्त्र से अधिक वस्त्र शरीर पर धारण न करूंगा। इस तरह की मर्यादा मे ऐसे वस्त्र रखना ही उचित है, जो लज्जा की रक्षा करने वाले और शीतोष्णादि से वचाने वाले तो हो परन्तु विकार पैदा करने वाले न हो।

(८) विलेपणविहि परिमाण—वस्त्र परिधान के पश्चात् शरीर पर ऐसे द्रव्यो का विलेपन किया जाता है, जो शरीर को शीतल तथा सुशोभित करने वाले होते हैं। जैसे चदन, केसर, कुकुम आदि। इस तरह के द्रव्य की मर्यादा करना।

(९) पुप्फविहि परिमाण इस बोल मे पुष्पो की मर्यादा करने के लिए कहा गया है। मैं अमुक वृक्ष के इतने फूलो के सिवा दूसरे तथा अधिक फूल काम मे न लूगा, ऐसी मर्यादा करना पुप्फविहि परिमाण है।

(१०) आभरणविहि परिमाण—शरीर पर धारण किये जाने वाले आभूषणो की मर्यादा करना कि मैं इतने मूल्य

या भार (वजन) के अमुक आभूपण के सिवा और आभूषण शरीर पर धारण न करूंगा ।❀

(११) धूपविहि परिमाण —इस वोल मे वायु-शुद्धि के लिए की जाने वाली धूप का परिमाण करना बताया गया है। जिस स्थान पर निवास किया जाता है, स्वास्थ्य की दृष्टि से, वहां का वायु शुद्ध रहना आवश्यक है और धूपादि का उपयोग वायु-शुद्धि के लिये ही किया जाता है परन्तु इसके लिये भी मर्यादा करना उचित है।

ऊपर जिन विधियो का परिमाण करना वताया गया है, वह उन पदार्थों के लिये है, जिनसे या तो शरीर की रक्षा होती है, अथवा जो शरीर को विभूषित करते हैं। अव नीचे ऐसी चीजो की विधि का परिमाण वताया जाता है, जिनसे शरीर का पोषण होता है, शरीर को वल मिलता है, अथवा जो स्वाद के लिये काम मे लाये जाते हैं।

(१२) पेज्ज-विहि परिमाण — जो पीये जाते हैं, उन पेय पदार्थों का परिमाण करना। पूर्व काल मे भोजन मध्याह्न मे किया जाता था, इस कारण प्रात काल के समय

❀शरीर पर आभूषण इसलिए धारण किये जाते हैं कि शरीर अलंकृत भी रहे और समय पर उन आभूषणो से सहायता भी ली जा सके। लेकिन आज ऐसे आभूषण धारण किये जाते हैं कि जिनसे यह उद्देश्य पूरा नही होता। जो केवल फैशन के लिए पहने जाते हैं, जिनका मूल्य अधिक नही होता, केवल दिखाऊ होते हैं। श्रावको को ऐसे आभूषणो से वचना चाहिए।

कुछ ऐसे पदार्थ पीये जाते थे जिनसे अजीर्णादि विकार मिट कर क्षुधा की वृद्धि होती है ।❀

(१३) भक्खणविहि परिमाण—इस बोल में उन पदार्थों का परिमाण करने के लिये कहा गया है, जो भोजन से पहले नाश्ते के रूप मे खाये जाते हैं, जैसे मिठाई आदि ।

(१४) ओदणविहि परिमाणः—ओदन में उन द्रव्यों का समावेश है, जो विधिपूर्वक अग्नि द्वारा उबाल कर खाये जाते हैं, जैसे चावल, थूली, खिचड़ी आदि ।

(१५) सूपविहि परिमाणः -सूप में उन पदार्थों का समावेश है, जो दाल आदि के रूप में खाये जाते हैं और जिनके साथ रोटी या भात आदि खाया जाता है ।

(१६) विगयविहि परिमाणः—विगय मे वे पदार्थ हैं,

❀ आजकल भी कई लोग प्रातःकाल के समय चाय आदि पिया करते हैं, लेकिन यह उन पाश्चात्य देशो की नकल है, जहा सर्दी का प्रकोप रहता है । भारत, उष्ण देश है । यहा के लिये चाय, स्वास्थ्यवर्द्धक नहीं हो सकती, किन्तु हानि देने वाली है । यहा के लिये प्रधानतः दूध अनुकूल है । परन्तु हमारी असावधानी से दूध के कल्पवृक्ष सूखते जा रहे हैं । हमारी उपेक्षा के कारण भारत का पशुधन नष्ट हो रहा है । भारत मे अनेक कत्लखाने खुल गये हैं, फिर भी हमारी आखें नही खुलती । हम दुधारु पशुओ की रक्षा न करके उन्हे उन लोगो के हाथो सौप देते हैं, जो उन्हे कत्ल कर डालते हैं ।

जो भोजन को सुस्वादु एवं पौष्टिक बनाते हैं। जैसे दूध, दही, घृत, तेल और गुड, शक्कर आदि मिठाई। दूध, दही, घृत, तेल और मिठाई, इन पाच की गणना विगय (विकृति उत्पन्न करने वालो) मे है। मधु (शहद) और मक्खन, विशेष विकृति उत्पन्न करने वाले हैं, इसलिए श्रावक को विशेष कारण के विना इनका उपयोग न करना चाहिए। मद्य और मास महा-विगय (वहुत ही विकृति करने वाले) हैं। इनसे बुद्धि भी भ्रष्ट होती है और ये त्रस जीवो की घात से उत्पन्न होते हैं। अत ये श्रावक के लिए सर्वथा त्याज्य हैं।

(१७) सागविहि परिमाण—साग मे उन पदार्थों की गणना है, जो भोजन के साथ व्यजन रूप से खाये जाते हैं। पन्द्रहवें बोल मे उन दालो की ही प्रधानता है, जो अन्न से बनती हैं। शेप सूखे या हरे साग की गणना शाक विषयक मर्यादा को साग-विहि परिमाण कहते है।

(१८) माहुरविहि परिमाण-इस बोल मे मधुर फलो की मर्यादा करना बताया है। आम, जामुन, केला, अनार आदि हरे फल और दाख, वादाम, पिश्ता आदि सूखे फलो की मर्यादा करना माहुरविहि परिमाण है।

(१९) जीमण-विहि परिमाण—इसमे उन पदार्थों की मर्यादा करना कहा गया है, जो भोजन के रूप मे क्षुधा-निवारणार्थ खाये जाते हैं, जैसे रोटी, वाटी, पूरी, पराठे आदि।

(२०) पाणीविहि परिमाणः—इसमे पानी की मर्यादा

करनें को कहा गया है। स्थान-नाम या संस्कार-भेद से जिसके नाम अलग-अलग होते हैं, अथवा द्रव्य सयोग से जिसकी पर्याय पलट गई है, ऐसे पानी की मर्यादा करना पाणीविहि परिमाण है। शीतोदक, उष्णोदक, गन्धोदक अथवा खारा पानी, मीठा पानी आदि पानी के अनेक भेद होते हैं। इसलिए पानी के विषय मे भी यह मर्यादा की जाती है कि मैं अमुक प्रकार के पानी के सिवा दूसरा पानी न पीऊंगा।

(२१) मुखवासविहि परिमाणः—इस बोल मे उन पदार्थों की मर्यादा करना कहा गया है, जो भोजनादि के पश्चात् स्वाद या मुख-शुद्धि के लिए खाये जाते हैं, जैसे पान, सुपारी, इलायची आदि।

(२२) उवाहणविहि परिमाण·—इसमे उन वस्तुओं की मर्यादा करना बताया गया है, जो पैर मे पहनी जाती हैं, जैसे जूता, खडाऊ आदि।

(२३) वाहणविहि परिमाण —इसमे उन साधनो की विधि का परिमाण करने को कहा गया है, जिन पर चढ कर भ्रमण या प्रवास किया जाता है—जैसे घोडा, हाथी, ऊंट, बैलगाडी, घोड़ागाडी, रथ पालकी, नाव, जहाज आदि।

(२४) सयणविहि परिमाण —इसमे उन वस्तुओ की मर्यादा है, जो सोने बैठने के काम आती हैं जैसे पलग, ढोलिया, खाट, पाट, आसन, बिछौना, मेज कुर्सी आदि।

(२५) सचित्तविहि परिमाण —इसमे सचित्त यानी

जीव सहित ऐसे पदार्थों की मर्यादा बताई गई है, जो बिना अचित्त बनाये ही खाये जाते हैं और जिनके स्पर्श से मुनि महात्मा बचते हैं। श्रावक, श्रमणोपासक होता है। श्रमणो की सेवा उपासना उन्हे प्रासुक, आहार, पानी, वस्त्र, पात्र आदि देकर ही की जाती है और किसी तरह की यानी शारीरिक-सेवा तो साधु लोग गृहस्थ से कराते ही नही हैं। श्रावक प्रासुक आहार पानी आदि तभी श्रमण को दे सकता है, जब वह स्वय अचित्त भोग रहा हो। इसलिए जहा तक सम्भव हो, श्रावक को सचित्त का सर्वथा त्याग करना चाहिए और यदि ऐसा न कर सके तो सचित्त की मर्यादा करनी चाहिए।

(२६) दव्वविहि परिमाण.—इस बोल मे यह कहा गया है कि ऊपर के बोलो मे जिन पदार्थों की मर्यादा की है, सचित्त और अचित्त पदार्थों का जो परिमाण किया है, उन पदार्थों को द्रव्य रूप में संग्रह करके उनकी मर्यादा करे कि मैं एक समय में, एक दिन में या आयु भर में इतने द्रव्य से अधिक का उपयोग न करूंगा। जो वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिए अलग-अलग मुंह में डाली जाएंगी, अथवा एक ही वस्तु स्वाद की भिन्नता के लिए दूसरी-दूसरी वस्तु के सयोग के साथ मुंह मे डाली जाएगी, उसकी गणना भिन्न-भिन्न द्रव्य में होगी। इसलिए जहा तक बन सके श्रावक को रसलोलुप न रहना चाहिए।

ऊपर बताये गये २६ बोलो मे पहले के ११ बोल शरीर को स्वच्छ, स्वस्थ और सुशोभित बनाने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं, मध्य के १० बोल खान-पान मे आने वाले पदार्थों से सम्बन्धित हैं और अन्त के शेष बोल शरीर की रक्षा करने वाले अथवा शौक पूरा करने वाले पदार्थों से

सम्वन्धित हैं । इन बोलो मे जीवन के लिए आवश्यक सभी उपभोग्य पदार्थ आ जाते है । इन बोलो मे कई बोल तो ऐसे पदार्थों से सम्बन्धित हैं, जो वर्त्तमान समय के लोगो को आवश्यकता से अधिक जान पडते हैं, परन्तु शास्त्र मे जो वर्णन है, वह त्रिकालज्ञो द्वारा सामान्य विशेष सभी लोगो को दृष्टि मे रख कर किया गया है । व्रत धारण करने वालो मे साधारण लोग भी होते हैं और राजा लोग भी होते हैं । इसीलिए शास्त्र मे ऐसी विधि बताई गई है कि जिससे किसी को कठिनाई मे न पड़ना पड़े । शास्त्रकारो ने अपनी ओर से तो सभी बाते बता दी हैं, फिर जिसको जिसकी आवश्यकता नही है, वह उसे त्याग सकता है ।

उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत का उद्देश्य श्रावक के जीवन को मर्यादित तथा सादा बनाना है और उसकी आवश्यकताओ को इतना कम करना है कि जिससे अधिक कम करना व्रत लेने वाले श्रावक के लिए सम्भव नही है । यह बात दूसरी है कि कोई श्रावक एक दम से अपनी आवश्यकताए न घटा सके और इस कारण उसे व्रत की मर्यादा साधारण से अधिक रखनी पड़े, फिर भी उसका ध्येय तो यही होना चाहिए कि मैं अपना जीवन बिलकुल ही सादा बनाऊ और अपनी आवश्यकताए बहुत ही कम कर दू । जो श्रावक एक दम से आवश्यकताओ को नही घटा सका है तथा अपना जीवन पूरी तरह सादा नही बना सका है, वह यदि इस ओर धीरे-धीरे बढता है तो कोई हर्ज नही, लेकिन उसको यह लक्ष्य विस्मृत न करना चाहिए ।

श्रावक का यह कर्त्तव्य है कि जिस तरह वह स्वय जीवित रहना चाहता है, उसी तरह दूसरे को भी

जीवित रहने दे । इस कर्त्तव्य का पालन वही कर सकता है, जिसकी आवश्यकताएं साधारण हैं, बढी हुई नही हैं। जिसकी आवश्यकताए बढी हुई है, वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए दूसरे को कष्ट मे डाले, अथवा उसकी आवश्यकयाओ के कारण दूसरे को कष्ट हो, यह स्वाभाविक है । जब चार आदमियो के निर्वाह योग्य भोजन वस्त्र आदि को एक ही आदमी अपने काम मे ले लेगा तब शेष तीन आदमियो को कष्ट उठाना ही पडेगा । यदि सब लोग अपना जीवन सादगी से बितावे, अपनी आवश्यकताए न बढने दे, तो संसार मे किसी को उपभोग परिभोग पदार्थों की ओर से कोई कष्ट नही रह सकता । किन्तु जब ऐसा नही होता तो हजारो लाखो मनुष्यो को जीवन के लिए आवश्यक वस्तुओ से वचित रहना पडता है । एक ओर तो कुछ लोग राजसी कही जाने वाली सुख-सामग्री भोगते हैं और दूसरी ओर बहुत से लोग अन्न के बिना त्राहि-त्राहि करते हैं । इस प्रकार ससार मे महान् विषमता फैली हुई है और इस विषमता का कारण है कुछ लोगो का अपनी आवश्यकताए अत्यधिक बढा लेना । जो लोग अन्न-वस्त्र आदि जीवन के लिए आवश्यक पदार्थों के न मिलने या कम मिलने से कष्ट पा रहे हैं, उनके लिए वे ही लोग उत्तरदायी हैं जो ऐसी चीजो का दुरुपयोग करते हैं, अधिक उपभोग करते हैं, अथवा अपने पास संग्रह करके रखते हैं । जिनकी आवश्यकताए बढ़ी हुई हैं वे लोग यदि अपनी आवश्यकताओ को घटा दे, उतना ही अन्न-वस्त्र आदि काम मे ले जितना कि काम मे लेना अनिवार्य है और अपने पास ऐसी चीजे अधिक सग्रह न कर रखें, तो दूसरे लोगो के अन्न-वस्त्र आदि न मिलने या कम मिलने के कारण कष्ट ही क्यो

उठाना पडे तथा साम्राज्यवाद और साम्यवाद की दलबन्दी क्यो हो ?

वास्तविक बात यह है कि सासारिक पदार्थो का उपयोग किसलिए होना चाहिए, लेकिन किसलिए किया जा रहा है, इस विषय मे लोगो से भूल हो रही है । उस भूल के कारण ही लोग अपनी आवश्यकताए वढा लेते हैं, अथवा अधिक से अधिक पदार्थ अपने अधिकार मे रखना चाहते है । सासारिक पदार्थों का उपयोग किसलिए है, लेकिन माना किसलिए जाता है, यह सब वताने के लिए भर्तृहरि कहते है –

तृषा शुष्यत्यास्ये पिबति सलिल स्वादु सुरभि
क्षुधार्त्त सन् शालीन् कवलयति शाकादिवलितान् ।
प्रदीप्ते कामाग्नौ सुदृढतरमाश्लिष्यति वधू
प्रतीकारो व्याधे सुखमिति विपर्यस्यति जन ॥

अर्थात्–मनुष्य का कठ जव प्यास से सूखने लगता है, तव वह शीतल सुगन्धित जल पीता है । मनुष्य जव क्षुधा से पीडित होता है, तब शाकादि सामग्री के साथ भोजन करता है और जव कामाग्नि प्रदीप्त होती है, तव सुन्दर स्त्री को हृदय से लगाता है । इस प्रकार पानी, भोजन स्त्री–अथवा ऐसी ही दूसरी चीजे पृथक्-पृथक् व्याधि की औषधिया है । एक-एक दुःख मिटाने की दवा है—परन्तु मनुष्यो ने इनमे सुख मान रखा है ।

इस प्रकार लोगो ने उन पदार्थो मे सुख मान रखा है, जिनका उपभोग किसी दुःख को मिटाने के लिए ही किया जाता है और इसी कारण आवश्यकता न होने पर

भी उन पदार्थों का उपभोग परिभोग किया जाता है, अथवा ऐसा प्रयत्न किया जाता है कि जिससे उन पदाथो का अधिक से अधिक उपभोग परिभोग किया जा सके। अन्यथा खाने के लिए पकवान, शाक और इसी प्रकार अन्य सुस्वादु वस्तुओ की क्या आवश्यकता है ? भूख तो साधारण रोटी आदि से भी मिट सकती है। भूख लगने पर रूखी-सूखी रोटी भी प्रिय एव सुस्वादु लगती है। ऐसी दशा मे पकवान मिष्टान्न एव शाक, चटनी, अचार, मुरब्बे या अन्य ऐसे ही पदार्थो की क्या आवश्यकता रहती है ? लेकिन लोगो ने खाने पीने में आनन्द मान रखा है। लोग चाहते हैं कि हम विना भूख भी अधिक से अधिक खावे। इस तरह लोग क्षुधा मिटाने के लिए खाने के वदले, रसेन्द्रिय का अधिक से अधिक पोपण करना चाहते हैं और इसीलिए क्षुधा न होने पर भी ऐसी सुस्वादु चीजे खा जाते है, जो स्वास्थ्य के लिए हानिप्रद, रोग उत्पन्न करने वाली, अधिक खर्च कराने वाली और अधिक पाप द्वारा तैयार होती है। रोग उत्पन्न होने का प्रधान कारण ऐसा खानपान ही है, जो क्षुधा न होने पर भी केवल स्वाद के लिए खाया पिया जाता है।

स्वाद-लोलुप लोग, स्वाद के लिये अधिक खा पीकर अपना जीवन तक भी नष्ट कर डालते है। इसके लिये रोम के एक बादशाह की वात प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि रोम का एक बादशाह स्वादिष्ट पदार्थ खाने पीने का वहुत शौकीन था। वह अपने लिए अनेक प्रकार के सुस्वादु भोज्य पदार्थ वनवा कर खाता। खाने के पश्चात् वह ऐसी औषध खाता, जिससे वमन हो जाता और फिर खाने के

लिए पेट खाली हो जाता। पेट खाली होने पर वह फिर खाता और फिर वमन करता। वह एक दिन मे ऐसा कई-कई बार किया करता। परिणाम यह हुआ कि उसे क्षय रोग हो गया और वह जल्दी मर गया।

रोम के इस बादशाह की बात तो इस कारण प्रसिद्धि मे आई कि वह बादशाह था तथा खाने के लिए औषध की सहायता से वमन किया करता था, लेकिन इसी तरह केवल स्वाद के लिए खाने वाले लोग अजीर्णादि के कारण प्रति वर्ष न मालूम कितने मर जाते हैं। उनकी बात प्रसिद्धि मे नही आती। इस तरह स्वाद के लिए खाना हानिप्रद है। फिर भी बहुत से लोगो ने, अधिक मात्रा मे अनेक प्रकार के स्वादिष्ट पदार्थ खाना गौरवास्पद मान रखा है। साधारण जनता भी यही मानती है कि जो अनेक प्रकार के सुस्वादु भोजन करता है, वही प्रतिष्ठित और सद्भागी है। ऐसा मानने के कारण जनता उस व्यक्ति की निन्दा भी करने लगती है, जो धनवान् होकर भी सादगी से जीवन बिताता है और स्वादिष्ट पदार्थ नही खाता है। परन्तु वास्तव मे वह व्यक्ति निन्दा के योग्य नही अपितु प्रशसा के योग्य ही है, जो धनवान् होकर भी केवल शरीर-रक्षा के लिए ही भोजन करता है, स्वाद के लिए भोजन नही करता। उपासकदशाङ्ग सूत्र मे जिन आनन्द आदि दस श्रावको का वर्णन है, वे श्रावक करोडो की सम्पत्ति वाले थे, फिर भी उन्होने उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत लेते समय मर्यादा मे जीवन निर्वाह की सामग्री के सिवा ऐसी कोई वस्तु न रखी थी, जो स्वाद या विलासिता के लिए हो।

बहुत से लोगो ने जिस तरह भोजन में सुख मान

रखा है, उसी तरह वस्त्र में भी सुख मान रखा है। उनकी दृष्टि मे, वस्त्र, शीत-ताप से बचने के लिये नही पहने जाते, किन्तु शृंगार के लिये पहने जाते हैं और इस कारण अधिक एव मूल्यवान् वस्त्र पहनना और वस्त्रो का अधिक परिवर्तन करना वडप्पन माना जाता है। इस तरह की धारणा बन जाने से लोग शरीर पर इतने अधिक वस्त्र लाद लेते हैं, जो शरीर के लिये बोझ रूप होने के साथ ही स्वास्थ्य को नष्ट करते हैं और व्यय बढाने वाले भी होते हैं। साथ ही इतने अधिक वस्त्र सग्रह कर रखते हैं, जो पडे-पडे खराब हो जाते हैं, सड जाते है, या कीडो द्वारा खा डाले जाते है। इस प्रकार एक ओर तो बहुत से वस्त्र पडे-पडे नष्ट होते है और दूसरी ओर अनेक लोग, शीत-ताप से बचने के लिये वस्त्र न मिलने के कारण दुःख पाते तथा मरते है।

इस उष्ण प्रदेश भारत मे अधिक वस्त्र पहनना कदापि आवश्यक या लाभप्रद नही है। इस देश मे तो केवल लज्जा की रक्षा के लिए अथवा शीत से बचने के लिये वस्त्र पहनने की आवश्यकता है, लेकिन अधिकांश लोग आवश्यक वस्त्रो के सिवा और भी बहुत से वस्त्र, केवल अपना वडप्पन दिखाने के लिए अथवा शीत-देशवासी लोगो का अनुकरण करने के लिये शरीर पर लादे रहते हैं। परिणाम यह होता है कि शरीर को पूरी तरह हवा नही लगती, इस कारण शरीर का पसीना रोम कूपो मे जम कर सूख जाता है जिससे वायु का संचार रुक जाता है। अथवा वह पसीना वस्त्रो मे प्रविष्ट हो कर सूख जाता है और शरीर के आस-पास गन्दगी पैदा कर देता है। इस प्रकार अधिक वस्त्र पहनना, स्वास्थ्य-विघातक होने के साथ ही, शरीर की त्वचा मे

शीत-ताप या पवन का आघात सहन करने की जो शक्ति है, उस शक्ति का भी विनाशक है और शरीर को दुर्बल रुग्ण एव अल्पायु बनाने वाला है।

लोगो ने वस्त्र पहनना किसी दुःख से बचने के लिए नही, किन्तु शृ गार अथवा वर्त्तमान-कालीन सभ्यता का पालन करने के लिए मान रखा है। इस कथन का एक और प्रमाण है, लोगो का मूल्यवान एव महीन वस्त्र पहनना। यदि शीतादि से बचने और लज्जा की रक्षा के लिये ही वस्त्र पहनना माना जाता तो फिर चित्र-विचित्र रंग वाले, अधिक मूल्यवान् या महीन वस्त्र पहनने की कोई आवश्यकता न होती, बल्कि ऐसे ही वस्त्र पहने जाते, जिनके द्वारा शीत ताप से बचा जा सके, लज्जा की रक्षा हो सके, जो सर्व-साधारण को प्राप्त होने योग्य सादे हो और जिनके निर्माण मे महापाप न हुआ हो, इसी प्रकार जो बालक लज्जा को जानते ही नही है, उनको वस्त्रो से जकड कर उनके शारीरिक विकास को भी न रोका जाता। बच्चो को वस्त्र पहनाये जाने का विरोध करते हुए कविसम्राट् रवीन्द्रनाथ टैगोर ने यह अभिप्राय व्यक्त किया है कि बच्चो को सिले हुए वस्त्र पहनना, उनके शारीरिक विकास को रोकना और एक प्रकार से उनकी हत्या करना है। स्वय बच्चे भी सिले हुए वस्त्र पहनाना पसन्द नही करते। बल्कि जब उन्हे वस्त्र पहनाया जाने लगता है, तब वे रोकर विरोध करते है, लेकिन यदि भारतीयो द्वारा किया गया कोई विरोध अग्रेज सुनते हो तो बालक द्वारा किया गया वस्त्र पहनाने का विरोध माता-पिता भी सुने अर्थात् जिस तरह अग्रेज

लोग भारतीयों पर जबर्दस्ती करते है, उसी तरह माता-पिता बालको पर जबर्दस्ती करते हैं ।

मतलब यह है कि भोजन और वस्त्र मे सादगी का न होना, प्रत्येक दृष्टि से हानिप्रद है । जो सादगी से जितना दूर रहता है और फैशन को जितना अपनाता है, वह दूसरे लोगों को उतना ही अधिक दुःख में डालता है । भारत के लोगो की दैनिक आय औसतन डेढ़ या पौने दो आने है । इसलिए जो व्यक्ति जितना अधिक खर्च करता है, वह उतने ही अधिक लोगो को भोजन-वस्त्र से वचित रखता है । जैसे, नौ भारतीयो को दैनिक एक रुपया मिलता है यानि नौ आदमियो के हिस्से मे एक रुपया आया है । वह एक रुपया ही उन नौ-आदमियो के जीवन-निर्वाह का साधन है । यदि उनमे का कोई एक आदमी बुद्धि-बल, शारीरिक वल या द्रव्य वल से उस एक रुपये को आप अकेला ही हड़प लेता है, आप अकेला ही एक दिन मे एक रुपया खर्च कर देता है तो शेप आठ आदमी भूखे रहे, यह स्वाभाविक ही है । इस प्रकार जो भोजन वस्त्र या फैशन-शौक के लिये अधिक व्यय करता है, वह दूसरे कई लोगो को भूखो मारने का पाप कमाता है । अपने ऐसे व्यवहार के कारण दूसरे को भूखो मारना, उस दूसरे की हत्या करना ही है । ऐसा करके उन लोगो के हृदय मे प्रतिहिंसा की भावना उत्पन्न करना है कि जो लोग भोजन, वस्त्र आदि के विना कष्ट पाते हैं । कभी कभी तो भोजन वस्त्र न मिलने के कारण दुःखी लोगो का असन्तोष इतना बढ जाता है कि उनके हृदय में प्रतिहिंसा की भावना उत्पन्न हो जाती है और वे असन्तुष्ट और दुःखी होकर उन लोगो का धन-जन नष्ट

कर डालते हैं, जो अपने रहन-सहन मे अधिक खर्च करते हैं तथा अन्न वस्त्र के विना दु खी लोगो की ओर ध्यान तक नही देते । रूस का इतिहास इस वात की साक्षी दे रहा है ।

लोगो ने इस तरह भोजन और वस्त्र के अधिक उपभोग मे आनन्द एव गौरव मान रखा है परन्तु विचार करने पर मालूम होगा कि आभूपण और ऐसी ही दूसरी चीजे-जीवन के लिये आवश्यक नही है, किन्तु हानिप्रद है । जिन आभूपणो को सुख और शृ गार की वस्तु मान कर पहना जाता है, क्या उनके कारण कभी जीवन नही खोना पडता ? क्या उनकी रक्षा के लिये चिन्तित नही रहना पडता ? और क्या वे शरीर के लिये भार-रूप नही है ?

इसी प्रकार जिन नशीली चीजो को आनन्द के लिये सेवन किया जाता है, क्या वे चीजें स्वास्थ्य को नष्ट नही करती ? क्या साबुन, क्रीम आदि वस्तुए त्वचा मे रही हुई प्राकृतिक क्षमता नष्ट करके त्वचा को कमजोर नही वनाती ? वास्तव मे ऐसी सभी चीजें हानि करने वाली हैं और इनके उपयोग मे किसी प्रकार का सुख भी नही है, वल्कि ये जीवन को दु'खी करने वाली हैं । फिर भी लोग ऐसी चीजो मे आनन्द मानते हैं और जव ये चीजे प्राप्त नही होती, तव मनस्ताप करते हैं तथा अपने जीवन का अधिकाश भाग ऐसी चीजो की प्राप्ति के प्रयत्न मे ही लगा देते है । इस प्रकार आवश्यकताओ के वढ जाने पर जीवन अशान्त रहता है और सदा हाय-हाय ही वनी रहती है ।

साराश यह कि जिन वस्तुओ का उपयोग किये विना

साधारणतया जीवन-निर्वाह नही हो सकता, उनका परिमाण करके शेष चीजो के उपभोग परिभोग का त्याग करना चाहिए। ऐसा करने से अपनी आवश्यकताओ को मर्यादित कर लेने से जीवन बहुत शाति से व्यतीत होता है। जीवन मे उपभोग्य परिभोग्य पदार्थ सम्बन्धी अशाति नही रहती। इसके सिवा, 'जो अपना खर्च कम रखता है, उसे कमाना भी कम पडता है और जो अधिक खर्च रखता है, उसे कमाना भी अधिक पडता है,' इस लोकोक्ति के अनुसार अपना रहन-सहन और खान-पान सादा न रखने पर खर्चीले रहन-सहन एव खान-पान के लिये अधिक कमाना पडेगा, जिससे जीवन मे अशाति रहना स्वाभाविक है। जिसका जीवन खाने-पीने तथा पहनने ओढने आदि के लिये कमाने मे ही लगा रहता है, उसके द्वारा धर्म कार्य कब होगे? ऐसे व्यक्ति का चित्त आवश्यकता-पूर्ति की चिन्ता से अस्थिर रहता है और जिसका चित्त ही अस्थिर है, उसके द्वारा आत्मकल्याण और परोपकार के कार्य कैसे हो सकते है?

उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करने से-यानी अपनी आवश्यकताए मर्यादित बना लेने से जीवन भी बहुत शाति से व्यतीत होता है और मूलव्रतो का विकास भी होता है। यह व्रत स्वीकार करने वाले का जीवन सादा हो जाता है, जिससे मूलव्रत देदीप्यमान होते है। जनता मे उसकी प्रतिष्ठा बढ जाती है और लोगो की दृष्टि मे वह विश्वासपात्र माना जाता है।

मूलव्रत स्वीकार करते समय श्रावक कुछ अव्रत तो दो करण तीन योग से त्यागता है और कुछ एक करण तीन

योग से अथवा एक करण एक योग से भी। इस कारण व्रत मे जो कुछ छूट रह जाती है—यानी जो अव्रत शेप रह जाता है वह दिक्व्रत धारण करने पर क्षेत्र से और उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत धारण करने पर द्रव्य से सकुचित हो जाता है अर्थात् शेप रहे हुए अव्रत सीमित हो जाते हैं और मूलव्रत प्रशस्त हो जाते हैं। दिक्व्रत और उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत, मूलव्रतो मे गुण उत्पन्न करके उन्हे देदीप्यमान वनाते हैं। उदाहरण के लिए एक आदमी आम्रफल खाता है और दूसरा आदमी आम्रफल खाने का त्यागी है। इन दोनो मे से जिसने आम्रफल खाना त्याग दिया है, उसको य; विचारने की आवश्यकता ही न रहेगी कि इस वर्प आम की फसल कैसी है ? आम का क्या भाव है ? अथवा वाजार मे आम आते हैं या नही ? इस प्रकार वह आम विपयक विचारो एव सकल्प-विकल्प आदि के पाप से वचा रहेगा। इसके विरुद्ध जो आम्रफल खाता है, उसको आम सम्वन्धी अनेक विचार होगे, वह आम सम्वन्धी चिन्ताओ की परम्परा से घिरा रहेगा और पाप का भागी वनता रहेगा। उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करने और न करने वाले मे प्रत्येक पदार्थ के सम्वन्ध मे ऐसा ही अन्तर रहता है। जो उपभोग-परिभोग परिमाण-व्रत स्वीकार कर लेता है, उसकी आत्मा चिन्ताओ एव पाप से वहुत कुछ मुक्त रहती है और उसे शाति का अनुभव होता है। इस प्रकार उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करने पर मूलव्रतो मे गुण उत्पन्न होता है तथा उनमे प्रशस्तता आती है।



उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत के अतिचार

पहले वता चुके हैं कि उपभोग-परिभोग-परिमाणव्रत दो प्रकार का है। यथा –

उवभोग-परिभोग परिमाणवए दुविहे।
पन्नत्ते, तजहा-भोयणाओ य कम्मओ य ॥

अर्थात् —उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत दो प्रकार का है, भोजन से और कर्म से।

दो प्रकार के उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत मे से भोजन सम्बन्धी व्रत के पाच अतिचार वताये गये है।❀ श्रावक को इन अतिचारो से वचते रहना चाहिए, अन्यथा व्रत मे मलिनता आयेगी। श्रावक लोग इन अतिचारो से वचे रह सके, इसीलिए इनका स्वरूप वताया जाता है।

❀ उपभोग-परिभोग के सभी पदार्थ भोजन मे गर्भित समझ लेने चाहिए। यहा भोजन को मुख्य और अन्य को गौण किया है।

(१) भोजन सम्बन्धी पांच अतिचारों मे से पहला अतिचार सचित्ताहार है। सचित्ताहार का अर्थ है सचित्त पदार्थ का आहार। जिस खान-पान की चीज मे जीव विद्यमान है, उसको सचित्त कहते हैं। जैसे धान, बीज, पृथ्वी, जल, वनस्पति आदि। ऐसी चीजे जो सचित्त हैं, मर्यादा होने पर भी भूल से खाना अतिचार है। इस अतिचार की व्याख्या करते हुए टीकाकार कहते हैं—

कृतसचित्ताहारप्रत्याख्यानस्य कृततत्परिमाणस्य वाऽना-भोगादि प्रत्याख्यान सचेतन भक्षयतस्तद्वा प्रतीत्यातिक्रमादौ वर्तमानस्य।

अर्थात्—जिस सचित्त आहार का त्याग किया है, अथवा जिसके सम्बन्ध मे कोई मर्यादा विशेष की है, भूल से उस पदार्थ को खाना वह सचित्ताहार अतिचार है।❀

❀ अतिचार का मूल पाठ है 'सचित्ताहारे।' इस पाठ पर से व श्री हरिभद्रीय आवश्यक टीकानुसार यह मतलब भी निकलता है कि श्रावक को यथा-सम्भव ऐसा खान-पानादि रखना चाहिए और ऐसी चीजें काम मे लेनी चाहिए, जो साधुओ के उपयोग मे भी आ सकें क्योंकि श्रावक, श्रमणोपासक है। श्रावक, श्रमण की सेवा उपासना तभी कर सकता है जब उसके पास श्रमण की सेवा उपासना के योग्य आहार, पानी, वस्त्र पात्र, शैया, सथारा, औषध और घर (मकान) आदि हो। श्रावक के पास ये वस्तुएं तभी प्रासुक और निर्दोष मिल सकती हैं, जब वह स्वय ऐसी

वस्तुओ का उपयोग करता हो । जो श्रावक ऐसा आहार पानी या वस्त्र पात्र आदि काम मे नही लेता है किन्तु ऐसी चीजे काम मे लेता है जो मुनि के काम मे नही आती, वह श्रावक साधुओ को उनके योग्य चीजे कहां से दे सकता है ? और साधुओ को प्रतिलाभित करके उनकी सेवा भक्ति कैसे कर सकता है ? उदाहरण के लिए, कोई श्रावक कच्चा पानी पीता है, सचित्त भोजन करता है, वस्त्र भी रगीन पहनता है, औषधादि भी सचित्त खाता या रखता है, मकान भी पौषधशाला के रूप मे अलग नही रखता है, सोने-बैठने के लिए बेत, निवार या रस्सी से बुने हुए बडे-बड़े पलग कुर्सी आदि रखता है और पात्र भी धातु के ही रखता है, तब वह साधुओ को ऐसी चीजे कहा से देगा, जो साधुओं के लिए उपयोगी हो । फिर तो साधुओ के लिये ऐसी चीजो की उसे पृथक् व्यवस्था करनी पडेगी, लेकिन ऐसा करने पर क्या साधु लोग उन चीजो को ले सकते हैं, जो उन्ही के लिये लाई या तैयार की गई हो ? साधु लोग वेही चीजे ले सकते है, जो प्रासुक, एषणीक एव अचित्त हो और ऐसी चीजे श्रावको के यहां से तभी मिल सकती हैं, जब श्रावक स्वय भी ऐसी ही चीजें काम में लेते हो । इसलिए श्रावक को उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत की मर्यादा मे ऐसी ही चीजें रखने का प्रयत्न करना चाहिए जो साधु मुनिराज के उपयोग मे आ सकती हो । साधु लोग श्रावको से कायिक सेवा तो ले नही सकते, इसलिए श्रमणोपासक होने के नाते श्रावक साधुओ की वही सेवा कर सकते हैं, जो साधुओ के सयम मे सहायक हो, अन्य क्या सेवा करें ? इसलिए श्रावको को यथासम्भव अपना भी रहन-सहन साधु मुनिराज की तरह का सादा रखना चाहिए ।

(२) दूसरा अतिचार है सचित्त पडिबद्धाहार । वस्तु तो अचित्त है, परन्तु उसको सचित्त वस्तु से सम्बन्धित रख कर खाना यह सचित्त प्रतिबद्ध–आहार है जैसे हरे पत्तों के दोने मे दूध, मिठाई आदि है। दूध या मिठाई तो अचित्त हैं, लेकिन हरा दोना सचित्त है, इसलिए इस तरह का खाना अतिचार है। खाता तो है आम्रफल का निकाला हुआ रस, जो अचित्त है लेकिन उसके साथ सचित्त गुठली भी है तो ऐसा रस खाना सचित्त प्रतिबद्धाहार अतिचार है।

(३) तीसरा अतिचार 'अप्पउलि ओसहि भक्खणया' अतिचार है। जो वस्तु पूर्ण पक्व नही है, यानी जो पूरी तरह पकी हुई नही है और जिसे कच्ची भी नही कह सकते, ऐसी अर्द्ध पक्व चीज खाना तीसरा अतिचार है। यद्यपि ऐसी चीज सचित्त नही है, फिर भी अर्द्ध पकी होने के कारण मिश्र मानी जाती है और ऐसी चीज शकास्पद तथा हानि करने वाली होती है, इसलिए ऐसी चीज का खाना अतिचार है।

कई वस्तुएं या तो पूरी तरह पक जाने पर ही हानि न करने वाली होती है, या पूरी तरह कच्ची रहने पर ही। जो वस्तु न तो पूरी तरह पकी हुई है, न पूरी तरह कच्ची है, वह वस्तु शरीर के लिए भी हानि करने वाली होती है। इसलिए भी ऐसी चीजें न खानी चाहिए।

(४) चौथा अतिचार दुप्पोलिओसहिभक्खणया है। जो वस्तु पकी हुई तो है, परन्तु बहुत अधिक पक गई है और पक कर बिगड गई है, अथवा जो बुरी तरह से पकाई गई है, जिसे पकाने की रीति घृणित है, वैसी वस्तु का

खाना दुप्पोलि ओमहि भक्खणया अतिचार है । श्रावक को ऐमी वस्तु न खानी चाहिए ।

(५) पाचवा अतिचार तुच्छोसहिभक्खणया है । यहा तुच्छौपध से मतलव ऐसो चीज से है, जिसमे क्षुधा निवारक भाग कम है और व्यर्थ का भाग अधिक है । श्रावक को ऐसी चीज नही खानी चाहिए । जैसे मू ग की कच्ची फली, जिसमे पौष्टिक तत्त्व वहुत कम होता है और जिसका अधिक खाना भी क्षुधा निवारण के लिये पर्याप्त नही होता । ऐमी चीजो का खाना श्रावक के लिए अतिचार रूप है ।

कर्मादान

उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत के भोजन सम्बन्धी विभाग के अतिचारो का यह स्वरूप है । श्रावक को ऊपर वताये गये इन पाच अनिचारो से सदा वचते रहना चाहिए । अत्र इम व्रत के दूसरे (कर्म) विभाग के मम्वन्ध मे कहा जाता है ।

यहा कर्म का मतलव आजीविका है । आजीविका का का प्रभाव उपभोग परिभोग पर और उपभोग परिभोग का प्रभाव आजीविका पर पडता ही है । उपभोग्य परिभोग्य पदार्थो को प्राप्त करने के लिए आजीविका करनी पडती है यानी कोई धन्धा रोजगार करना ही पडता है । जिसकी आवश्यकताएं वढी हुई होती हैं, उसको धन्धे द्वारा अधिक आय करनी पडती है और जिसकी आवश्यकताए कम हैं, उसे कम आय करनी पड़ती है, परन्तु गृहस्थ श्रावक को अपनी आवश्यकताए पूरी करने के लिए कोई धन्वा तो

करना ही पडता है। हा यह बात अवश्य है कि जिसने अपनी आवश्यकताएं मर्यादित कर दी हैं, वह थोडी आय से ही सन्तुष्ट रहता है तथा ऐसी रीति से आजीविका करता है जिसमे पाप का भाग कम और धर्म का भाग अधिक हो। इसके विरुद्ध जिसकी आवश्यकताएं बढी हुई है, उसको वहुत आय होने पर भी सन्तोष नही होता तथा वह अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये ऐसी रीति से भी आजीविका करता है, जिसमे पाप का भाग अधिक हो और जो निषिद्ध हो।

शास्त्र मे, श्रावको के लिये पन्द्रह कार्यों द्वारा आजीविकोपार्जन का निषेध किया गया है। वे पन्द्रह कार्य, पन्द्रह कर्मादान के नाम से प्रसिद्ध हैं। श्रावक धर्मपूर्वक ही आजीविका कर सकता है। इस कथन का अर्थ यह नही है कि गृहस्थ-श्रावक भीख माग कर खावे। किन्तु जिस कार्य मे महापाप नही है, वह कार्य करके आजीविका चलाना, धर्म की ही आजीविका कहलाती है। यद्यपि आजीविका के लिये किये जाने वाले व्यवसाय मे पाप का भाग भी होता है, लेकिन किसी व्यवसाय मे पाप का भाग अल्प होता है और किसी मे ज्यादा। जिसमे पाप का भाग ज्यादा है उस व्यवसाय द्वारा आजीविका करना पाप की आजीविका है और जिसमे पाप का भाग अल्प होता है, उस व्यवसाय द्वारा आजीविका करना धर्म की आजीविका कहलाती है, यद्यपि गृहस्थ श्रावक के लिए जो धर्म की आजीविका कहलाती है, उसमे पाप का कुछ भाग होने पर भी वह आजीविका उसी प्रकार पाप की आजीविका नही कही जाती, जिस प्रकार चन्द्र मे थोड़ी सी कालिमा देखने मे आती है,

फिर भी यह नही कहा जाता कि चन्द्रमा काला है । इसी प्रकार जिन कार्यों मे पाप का अश कम है, वे कार्य भी पाप पूर्ण नही माने जाते, किन्तु दृष्टि सम होने से धर्मपूर्ण माने जाते है । जहा श्रावक के आरम्भादि का वर्णन किया जाएगा, वहा तो यही कहा जाएगा कि श्रावक आरम्भ समारम्भ करते है, लेकिन सामान्यतया श्रावक की गणना धार्मिक मे ही होगी क्योकि उसने महापाप त्याग दिया है । किसी पर एक लाख रुपये का ऋण हो, उस समय तो वह ऋणी माना जाएगा, लेकिन जिस पर एक लाख रुपये का ऋण था और जिसने उसमे से ९९९९९ रुपया चुका दिया है, उसको अऋण कहा जाने मे किसी प्रकार आपत्ति नही हो सकती । यद्यपि अभी उसे एक रुपया ऋण चुकाना शेष है, लेकिन एक लाख रुपयो को दृष्टि मे रखते हुए एक रुपया कुछ भी नही है । उस पर जो एक रुपये का ऋण शेष है, वह नही के बराबर माना जाएगा और उसकी गणना अऋणी मे होगी । इसी प्रकार श्रावक मे पाप तो शेष है परन्तु अल्प पाप है और उसने महापाप-त्याग दिया है, इसीलिए उसकी गणना धार्मिक मे ही होगी । इसीलिए शास्त्र मे श्रावको का वर्णन करते हुए उन्हे ये विशेषण दिये गये हैं—

अप्पारम्भा, अप्पपरिग्गहा, धम्मिया,
धम्माणुया, धम्मिट्ठा, धम्मक्खाई ।
धम्मप्पलोइया, धम्मपज्जलणा,
धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव,
वित्तिं कप्पेमाणा विहरंति ।

श्रावक के लिए जिन पन्द्रह कर्मादानो का निषेध किया है, वे पन्द्रह कर्मादान महापाप पूर्ण होते हैं। इसीलिए श्रावक के वास्ते पन्द्रह कर्मादान निषिद्ध हैं। कर्मादान शब्द 'कर्म' और 'आदान' इन दो शब्दो के संयोग से बना है, जिसका अर्थ है—

कर्मणा उत्कटज्ञानावरणीयादीना
पापप्रकृतीना आदानानीति कर्मादानानि

यानी गाढ कर्मों को ग्रहण करने के कारण भूत महापापपूर्ण होने से, पन्द्रह कार्यों को कर्मादान कहा गया है।

पन्द्रह कर्मादान इस प्रकार हैं—१ इङ्गालकम्मे, २ वणकम्मे, ३ साडीकम्मे, ४ भाडीकम्मे, ५ फाडीकम्मे, ६ दन्तवणिज्जे, ७ लक्ख वणिज्जे, ८ रसवणिज्जे, ९ विसवणिज्जे, १० केसवणिज्जे, ११ जन्तपीलणकम्मे, १२ निल्लछणकम्मे, १३ दवग्गिदावणियाकम्मे, १४ सरदहतलायशोसणयाकम्मे, १५ असईजणपोसणया कम्मे।

ये पन्द्रह कर्मादान महान् कर्मवन्ध के हेतु हैं। इनमे से कुछ कर्मादान तो ऐसे हैं जो लोक मे भी निन्द्य माने जाते हैं और जिनके करने से सामाजिक प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है। साथ ही ये कर्मादान परलोक भी विगाडने वाले हैं। नीचे इन पन्द्रह कर्मादानो पर प्रकाश डाला जाता है.—

१ इङ्गालकम्मे, यानी अङ्गारकर्म। अगारकर्म से

मतलब है, कोयले बना कर बेचना और इस प्रकार जीविका चलाना। इस कार्य मे छ काय के जीवो की बहुत विराधना होती है और लाभ कम होता है। कोयले के लिए बडे-बडे हरे वृक्ष काट डाले जाते है, जिससे वन का प्राकृतिक सौन्दर्य नष्ट होता है। इसके सिवा जो वृक्ष काट डाले जाते हैं, वे यदि न काटे जावे तो उनके द्वारा मिलने वाला स्वास्थ्य-वर्द्धक पवन भी मिले और सूखने पर लकड़ी भी मिले। आजकल बडे बडे वृक्षो को तो काट डाला जाता है और घर पर कुडो मे वृक्ष के दो चार पौधे लगा कर उनसे ऑक्सिजन (स्वास्थ्यवर्द्धक पवन) की आशा की जाती है। लेकिन ऐसे कुंडो से कितना ओक्सिजन मिल सकता है? इसके सिवा ऐसे कुडों से ससार के सभी लोगो का काम नही चल सकता। ससार के लोगो का काम वन के वृक्षो से ही चलता है। वृक्ष, खराब हवा अपने मे खीच कर, उसके वदले अच्छी हवा छोडते हैं, जिससे ससार के लोग जीवित रहते हैं। ऐसे उपकारी वृक्षो को कोयले के लिए काट डालना महान् पाप है।

२. वणकम्मे, यानी वनकर्म। जंगल से लकड़ी बांस आदि काट कर बेचने का नाम वनकर्म है। इस कार्य से तत्काल और परम्परा से वहुत हानि होती है। वन में रहने वाले कई पचेन्द्रियादि त्रस जीवो का नाश होता है तथा वन का प्राकृतिक सौन्दर्य भी नष्ट होता है। वन द्वारा पशु-पक्षियो को जो आधार मिलता है वह आधार छूट जाता है। ऐसा अनर्थकारी व्यापार श्रावक के लिए त्याज्य है।

कई लोग जगल का ठेका ले लेते है और जगल के वृक्ष काट कर तथा वेच कर आजीविका करते हैं। इस व्यवसाय की गणना 'वनकम्मे' मे ही है। श्रावक के लिए

यह व्यवसाय त्याज्य है ।

३ साडीकम्मे, यानी साटिक कर्म । बैल-गाडी या घोडागाडी आदि द्वारा भाड़ा कमाना, अथवा शकट यानी गाड़ा-गाड़ी आदि वाहन बनवा-बनवा कर वेचना या किराये पर देना साडीकम्मे है । इस कार्य से परम्परा से पंचेन्द्रिय जीवों को महान् त्रास होता है, जो महापाप का कारण है । अतः श्रावक को ऐसे कार्यों द्वारा आजीविका न करनी चाहिए ।

४. भाडीकम्मे, यानी भाटिकर्म । जिस तरह इंगाल कर्म और वनकर्म का परस्पर सम्बन्ध है, उसी तरह साडी-कर्म और भाडीकर्म का भी आपस मे सम्बन्ध है । साडीकर्म में गाडा-गाडी आदि वाहन मुख्य हैं और भाडीकर्म मे पशु यानी घोडे, ऊंट, भैंस, गधे, खच्चर, बैल आदि मुख्य हैं । इस तरह के पशुओ को भाडे पर देकर उस भाडे से आजी-विका चलाना भाडीकर्म द्वारा आजीविका चलाना है । श्रावक, पशुओ द्वारा अपना मर्यादित बोझ तो ढुवा सकता है परन्तु बोझ ढोने के लिए दूसरे को पशु भाडे पर देना श्रावक के लिए निषिद्ध है । क्योंकि भाडे पर लेने वाले लोग, अपने लाभ के सम्मुख पशुओं की दया की उपेक्षा कर डालते हैं ।

५. फोडीकम्मे, यानि स्फोट कर्म । हल, कुदाली, सुरग आदि से पृथ्वी को फोडना और उसमे से निकले हुए पत्थर मिट्टी, धातु आदि खनिज पदार्थ को वेचना 'फोडीकर्म' है अथवा जमीन खोदने का ठेका लेकर जमीन खोदना और इस प्रकार आजीविका करना फोडीकर्म द्वारा आजी-विका करना है । श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय त्याज्य है ।

कई लोग कृषि कर्म को भी फोडीकर्म में मानते हैं और कहते हैं कि खेती करने मे हल द्वारा भूमि खोदनी पड़ती है, इसलिए खेती करना भी फोडीकर्म है। परन्तु यह कथन गलत है। खेती करना फोडीकर्म नही है। आजीविकार्थ खनिज पदार्थ निकालने के लिए भूमि खोदना फोडीकर्म है, खेती के लिए भूमि खोदना फोडीकर्म नही है। यदि कृषि कर्म की गणना फोडीकर्म मे होती तो आनन्द आदि श्रावक खेती कैसे कर सकते थे ? भगवती सूत्र मे भगवान् का कथन है कि मेरे श्रावक कर्मादान के त्रिकरण से त्यागी होते हैं और आनन्द श्रावक का श्रावकपना भगवान् ने स्वीकार किया है। ऐसी दशा मे यदि कृषि कर्म की गणना फोडीकर्म अथवा कर्मादान मे होती तो आनन्द तथा दूसरे श्रावक खेती न करते और यदि करते रहे तो उनकी गणना आदर्श श्रावकों मे न होती, न भगवान् उनका श्रावकपना ही स्वीकार करते। आनन्द श्रावक खेती करता था, यह बात शास्त्र मे स्पष्ट है। आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आनन्द श्रावक ने भूमि से उत्पन्न अन्न आदि ढोने के लिए पाच सौ गाडे मर्यादा मे रखे। इस विषय मे टीकाकार कहते हैं—

सवाहन क्षेत्रादिभ्यस्तृणकाष्ठधान्यादिगृंहा-
दावानयन तत्प्रयोजनानि संवाहनिकानि।

इन सब बातो से स्पष्ट है कि आनन्द श्रावक खेती करता था, अन्यथा खेती से उत्पन्न अन्न ढोने के लिए पाच सौ गाडे मर्यादा मे क्यो रखता ? इस प्रकार यह सिद्ध है कि कृषिकर्म की गणना फोडीकर्म मे नही है।

ये पांच कर्म हुए । अब पांच निषिद्ध वाणिज्य बताए जाते हैं जिनकी गणना पन्द्रह कर्मादान मे है ।

६ दन्तवणिज्जे, यानी दांत का व्यापार । हाथीदांत लाने वाले लोगो से दात खरीद कर बेचना दन्तवाणिज्य है । ऐसे लोगो को यदि दात लाने का आर्डर दिया जायेगा, उनसे दात लेने का सौदा किया जायेगा, अथवा उनके लाये हुये दात खरीदे जायेंगे तो वे लोग हाथियो को मार कर दात लायेंगे, यह स्वाभाविक है । इसलिए श्रावक के लिए ऐसा वाणिज्य त्याज्य है ।

दन्तवाणिज्य मे उपलक्षण से शंख, हड्डी अथवा ऐसी हीं उन दूसरी चीजो के वाणिज्य का भी समावेश हो जाता है जो इसी श्रेणी की होती हैं और त्रस जीवो को हिंसा द्वारा प्राप्त की जाती हैं ।

७ लक्खवाणिज्जे, यानी लाख का व्यापार । लाख, वृक्षो का रस (मद) है । लाख निकालने मे त्रस जीवो की बहुत हिंसा भी होती है और लाभ भी अधिक नही होता । इसलिए श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय त्याज्य है ।

८. रसवाणिज्जे, यानी रस का व्यापार । यहा रस से मतलब मदिरा है । जो पदार्थ मनुष्य को उन्मत्त बना देते हैं, जिन पदार्थों के सेवन से बुद्धि नष्ट होती है, उन पदार्थों की गणना मद यानी मदिरा मे है । ऐसे पदार्थों का सेवन करने वाला मनुष्य अनर्थ कर डालता है ।

शक्कर, गुड, घृत, तेल, दूध, दही आदि के व्यापार को रस वाणिज्य मे बताना असगत है । रसवाणिज्य किसे

कहते हैं, यह बताने के लिए टीकाकार ने स्पष्ट कर दिया है कि:—

रसवाणिज्ये सुरादिविक्रय: ।

इसमे सुरा (मदिरा) तथा ऐसी ही दूसरी चीजों के वेचने को रस-वाणिज्य मे वताया गया है; दूध, दही आदि वेचने को नही । गुड, घृत, दूध, दही आदि पदार्थ मनुष्य के लिए हितकारी है और जीवन को पुष्टि देने वाले हैं । इसलिए इनका व्यवसाय इस कोटि का निन्द्य अथवा त्याज्य नही है ।

९ विसवाणिज्जे, यानी विष का व्यापार । अफीम, संखिया आदि जीवन-नाशक पदार्थों की गणना विष में है । जिनके खाने या सूंघने से मृत्यु हो जाती है, ऐसे विषैले पदार्थों का व्यवसाय हानिप्रद है, इसलिए श्रावक यह व्यवसाय न करे । लोक मे भी ऐसे विप पदार्थ के क्रय-विक्रय पर सरकार का नियन्त्रण रहता है और यदि कोई व्यक्ति विप खाकर मर जाता है अथवा किसी दूसरे को मार डालता है तो जिसके यहा से वह विष खरीदा गया है, वह व्यापारी भी न्यूनाधिक अंश मे अपराधी माना जाता है ।

१० केसवाणिज्जे, अर्थात् केश का व्यापार । यहां केशवाणिज्य से मतलव सुन्दर केश वाली दासियो का क्रय विक्रय करना है । पूर्व समय मे अच्छे केश वाली स्त्रियो का क्रय विक्रय होता था और ऐसी स्त्रिया दासी वना कर भारत से वाहर यूनान आदि देशो मे भी भेजी जाती थी । प्राचीन काल मे दासियों का क्रय-विक्रय राज्य का अपराध नही माना जाता था । इससे भारत मे भी दासियो का व्यापार होता

था । इसका प्रमाण है, कौशाम्बी मे सती चन्दनबाला का और काशी मे महारानी तारा का क्रय-विक्रय होना । यह व्यवसाय निन्द्य है, इसलिए श्रावक इस तरह के व्यवसाय द्वारा आजीविका न करे ।

आजकल के लोगो ने सरकारी कायदे से विवश होकर दास दासी का क्रय-विक्रय चाहे त्याग दिया हो, लेकिन जहां तक सुना जाता है, आजकल दास-दासी के क्रय-विक्रय का स्थान वर-कन्या के क्रय-विक्रय ने ले लिया है। इस मानव-विक्रय की प्रथा के कारण हैं धनिक लोग । कन्या के वदले मे या वर के वदले मे द्रव्य वे ही लोग देते हैं अथवा दे सकते हैं, जिनके पास द्रव्य है । धनिको को जव तीसरी या चौथी पत्नी वनाने के लिए किसी की कन्या की आवश्यकता होती है, तव वे रुपये के वल से किसी गरीव की कन्या खरीदते है । पहले या दूसरे विवाह के समय तो धनिक लोग गरीवो से घृणा करते हैं, उनकी लडकी लेने की वातचीत करना भी अपमान की वात समझते हैं और धनवान् की लडकी लेना ही पसन्द करते है, लेकिन दूसरे, तीसरे या चौथे विवाह के समय जव कि आयु अधिक हो जाने के कारण कोई धनिक अपनी कन्या नही देता है, तव गरीव से जातीय समता का सम्वन्ध वता कर और उन्हे प्रलोभन मे डाल कर यानी रुपये देकर उनकी कन्या ले लेते हैं ।

यही वात वरविक्रय की है । धनिक लोग, अपने लड़के को एक प्रकार से नीलाम पर चढा देते हैं । जो अधिक धन देना स्वीकार करता है, उसी की कन्या से अपने लडके का विवाह करते है । धनिको के इस वर-कन्या के क्रय-विक्रय

से समाज मे बहुत ही विपमता उत्पन्न हो गई है, जो दिन प्रतिदिन बढती जा रही है । ऐसे व्यवहार के कारण समाज में एक ओर तो बहुत से गरीब, लडकी न मिलने के कारण अविवाहित रह जाते हैं और दूसरी ओर विधवाओं की सख्या बढ गई है । यदि समाज के लोग मिल कर इसके लिए कोई नियम बनावे तो यह मानव-विक्रय की प्रथा भी नष्ट हो सकती है और इस प्रथा के कारण होने वाला अनिष्ट भी रुक सकता है । भगवान् ने जब दास-दासी का क्रय-विक्रय भी त्याज्य बताया है और राजकीय व्यवस्था से भी दास-दासी का क्रय-विक्रय निपिद्ध है, तव वर कन्या का बेचना उचित कैसे हो सकता है ? यह बात तो बहुत लोगो के अनुभव की ही होगी कि जिस कन्या के बदले मे रुपया ले लिया जाता है, उस कन्या को रुपया देने वाले की दृष्टि मे एक गृहिणी या कुलवधू की सी प्रतिष्ठा नही रहती, किन्तु उसको ठीक मोल ली हुई दासी की तरह ही माना जाता है । इसलिए श्रावक को इस तरह का व्यवसाय कदापि न करना चाहिए ।*

कई लोग केसवरिगज्जे मे ऊन या ऊनी वस्त्र का व्यवसाय भी बताते है, लेकिन ऊन या ऊनी वस्त्र के व्यवसाय को केशवाणिज्य मे बताना असगत है । टीकाकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि केशवाणिज्य किसे कहते हैं ।

---

* आजकल अनेक लोग वर-कन्या के क्रय-विक्रय की दलाली करते हैं तथा ऐसा कार्य करते हुए भी स्वय को जैन धर्मी कहते हैं । लेकिन वास्तव मे ऐसा व्यक्ति जैन धर्म को बदनाम करने वाला है । जो वस्तुतः जैन धर्मी है, वह ऐसे निन्द्य कार्य द्वारा कदापि आजीविका नही कर सकता ।

ये पाच प्रकार के व्यापार निषिद्ध हैं। अव आगे पाच प्रकार के और निपिद्ध कर्म वताये जाते है।

११. जतपीलणियाकम्मे—यानी यन्त्र द्वारा पीलने का कर्म। कोल्हू द्वारा तिल या गन्ने आदि का तेल या रस निकालने का धन्धा करना जंतपीलणियाकम्मे कहा जाता है। श्रावक को इस धन्धे द्वारा आजीविका न करना चाहिए क्योकि इस धन्धे मे अनेक त्रस जीवो की हिंसा सम्भव है।

जन्तपीलणियाकम्मे का रूप वताते हुए टीकाकार ने तेल या रस निकालने के लिए कोल्हू चला कर आजीविका करना ही वताया है। इससे स्पष्ट है कि उस समय भारत मे यन्त्र के नाम पर केवल गन्ना या तिल पीलने के देशी कोल्हुओ का ही प्रचलन था और कोई यन्त्र अस्तित्व मे न थे। अन्यथा टीकाकार उनका भी उल्लेख करते ही। पूर्व समय मे, जव कि भारत आधुनिक यन्त्रवाद से वचा हुआ था, तव यह देश वहुत सम्पन्न था और लोगो का जीवन शातिपूर्वक व्यतीत होता था। उस समय भारत का धन भी विदेशो को नही जाता था तथा श्रमजीवी लोगो के लिए श्रम करने का भी विस्तृत क्षेत्र रहता था। इस कारण किसी को भूखो भी न मरना पडता था और लोगो का जीवन भी स्वावलम्वी था। लेकिन जव से भारत मे यन्त्रवाद का प्रचार हुआ है, तव से कुछ लोग तो अवश्य धनवान् वने होगे, लेकिन साधारण लोग आजीविकाहीन-निरुद्यमी और परावलम्वी हो गये हैं। ससार मे नङ्गो भूखो की सख्या यन्त्रवाद ने ही वढाई है। इस प्रकार यन्त्रवाद के आधिक्य से भारत का धन विदेशो मे जा रहा है और भारत दिन-प्रतिदिन कगाल तथा पतित होता जा रहा है।

यन्त्रवाद से होने वाली ऐसी हानियो को दृष्टि मे रख कर ही भगवान् ने इस व्यवसाय को कर्मादान मे बताया है।

कोई कह सकता है कि यदि गन्ना या तिल (जिसमे से तेल निकलता है) पीलना कर्मादान मे है, तब कोई कृषक जैन धर्म कैसे स्वीकार कर सकता है? क्योकि कृषक तो गन्ने की भी कृषि करता है तथा तिल की भी। इसलिए उसके लिए कोल्हू की सहायता लेना आवश्यक है। इस प्रकार के कथन का उत्तर यह है कि अपनी आवश्यकता पूरी करने के लिए कोल्हू का उपयोग करने में और कोल्हू का धन्धा करने मे बहुत अन्तर है। भगवान् ने कोल्हू के धन्धे को ही कर्मादान मे बताया है।

१२ निल्लछ्छणकम्मे-यानी पशुओ को खसी (नपु सक) करके आजीविका करना। श्रावक के लिए ऐसा व्यवसाय त्याज्य है। इस व्यवसाय से पशुओ को दुःख भी होता है और उनकी नस्ल भी खराब होती है।

१३ दवग्गिदावणिया कम्मे-यानी वनदहन करना। भूमि साफ करने मे श्रम न करना पडे, इसलिए बहुत से लोग आग लगा कर भूमि के ऊपर का जगल जला देते हैं और इस प्रकार भूमि साफ करते या कराते है तथा इस प्रकार आजीविका करते हैं। लेकिन इस कार्य से बहुत जीवो की हिसा होती है, इसलिए श्रावक के लिए यह व्यवसाय त्याज्य है।

१४. सरदहतलाय-सीसणियाकम्मे, यानी तालाव नदी आदि के जल का सुखाना। कई लोग तालाब नदी आदि

का पानी सुखा कर वहां की भूमि को कृषि करने योग्य वनाने का धन्धा किया करते हैं। इस धन्धे के कारण जल में रहने वाले जीव मर जाते हैं, इसलिए श्रावक को ऐसा धन्धा त्याज्य है।

१५. अमईजणपोसणिया कम्मे—यानी असतियो का पोषण करके उनके द्वारा आजीविका चलाना। कई लोग कुलटा स्त्रियो का इसलिए पोषण करते हैं कि उनसे व्यभिचार कराकर द्रव्य प्राप्त किया जाये। यह धन्धा महान् पापपूर्ण एवं निन्द्य है, इसलिए श्रावको के लिए सर्वथा त्याज्य है।

ऊपर वताये गये दस कर्म और पांच वाणिज्य, ये पन्द्रह कर्मादान हैं। श्रावक के लिए ये पन्द्रह कर्मादान सर्वथा त्याज्य हैं। कोई कह सकता है कि ससार मे ऊपर वताये गये व्यवसाय तो होते ही हैं और यदि श्रावक न करें तव भी ये व्यवसाय होगे ही, फिर श्रावको को इन व्यवसायो द्वारा होने वाले लाभ से क्यो वचित रखा जाता है? वल्कि यदि ये कार्य श्रावक करेंगे तो अन्य लोगो की अपेक्षा कुछ तो पाप टालेगे ही। इसका उत्तर यह है कि वैसे तो ससार मे सभी पाप होते हैं, लेकिन इस कारण यह युक्ति सगत नही हो सकती कि श्रावको के न करने पर भी वे पाप तो होगे ही, इसलिए श्रावको को उन कामो के लाभ से क्यों वचित रखा जावे? ससार मे पाप होते हैं, इसी कारण श्रावको को पाप से वचने का उपदेश दिया जाता है। श्रावको के करने पर भी पापपूर्ण कार्य तो होते ही हैं, इस वात को दृष्टि मे रख कर यह विधान नही किया जा सकता कि पाप करना चाहिए। कोई पापपूर्ण कार्य संसार मे चाहे

किसी भी रूप में होता हो, श्रावक को तो वैसे कार्य से वचने का ही उपदेश दिया जाएगा। यह नही हो सकता कि संसार मे वह पाप-कार्य होता है, इसलिए उसे अनिषिद्ध माना जावे। संसार मे मांस का व्यवसाय होता ही है, लेकिन क्या इस कारण श्रावको के लिए मांस का व्यापार निषिद्ध न होना चाहिए ? जो कार्य पाप है, निन्द्य है, श्रावक को उससे वचने के लिए ही उपदेश दिया जायेगा, फिर वह कार्य संसार मे कितना ही फायदेमन्द क्यो न हो !

इसी के अनुसार पन्द्रह कर्मादानों में बताये गये कार्य संसार में कितने भी क्यो न होते हो, लेकिन श्रावक को वे कार्य कदापि न करने चाहिए क्योकि वे कार्य महान् पाप द्वारा होते हैं। ये कार्य यदि विलकुल ही वन्द हो जावें तो इनके वन्द होने से संसार के लोगो का कोई काम नहीं रुक सकता। उदाहरण के लिए यदि कोई आदमी कोयला वना कर वेचने या जङ्गल से लकडी काट कर वेचने का धन्धा न करे अथवा किसी से न करावे तो इससे ससार के लोगो का क्या काम रुक सकता है ? जिसे लकडी या कोयले की आवश्यकता होगी, वह स्वय अपनी आवश्यकता पूरी कर सकता है। कर्मादान मे बताये गये व्यवसायो मे जितना अधिक पाप होता है, उतना अधिक आर्थिक लाभ भी नही होता। इसके सिवा ये व्यवसाय, प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट करने वाले एवं जनता को प्राकृतिक लाभ से वञ्चित रखने वाले भी हैं।

इन सब वातो को दृष्टि मे रख कर श्रावकों को महान् पाप से वचाने एव उन्हे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त

कराने के लिए ही भगवान् ने श्रावकों के लिए कर्मादान निषिद्ध कहे हैं । कर्मादान मे गिने गये व्यवसाय करने वाला समाज की दृष्टि में भी प्रतिष्ठित नही माना जाता ।

पन्द्रह कर्मादान का त्याग, श्रावक के मूल व्रतों में गुण उत्पन्न करने वाला होने के साथ ही बुद्धि को निर्मल तथा चित्त मे समाधि रखने वाला है और आत्मा को कल्याण की ओर वढाने वाला है । इसलिए श्रावक को इन पन्द्रह कर्मादानों का त्याग करना चाहिए । इनके द्वारा आजीविका नही करनी चाहिए ।

पन्द्रह कर्मादान, सातवे व्रत के अतिचारो मे हैं । सातवें व्रत के २० अतिचार है जिनमे से १५ अतिचार, १५ कर्मादान ही कहाते है और इनसे पहले पाच अतिचार दूसरे वताये गये हैं । श्रावक को इन २० अतिचारो से वचते रहना चाहिए ।



किसी भी रूप में होता हो, श्रावक को तो वैसे कार्य से वचने का ही उपदेश दिया जाएगा। यह नही हो सकता कि ससार मे वह पाप–कार्य होता है, इसलिए उसे अनिषिद्ध माना जावे। संसार मे मांस का व्यवसाय होता ही है, लेकिन क्या इस कारण श्रावको के लिए मांस का व्यापार निपिद्ध न होना चाहिए? जो कार्य पाप है, निन्द्य है, श्रावक को उससे वचने के लिए ही उपदेश दिया जायेगा, फिर वह कार्य संसार मे कितना ही फायदेमन्द क्यों न हो!

इसी के अनुसार पन्द्रह कर्मादानों में वताये गये कार्य संसार में कितने भी क्यो न होते हों, लेकिन श्रावक को वे कार्य कदापि न करने चाहिए क्योकि वे कार्य महान् पाप द्वारा होते हैं। ये कार्य यदि विलकुल ही वन्द हो जावे तो इनके वन्द होने से ससार के लोगो का कोई काम नही रुक सकता। उदाहरण के लिए यदि कोई आदमी कोयला वना कर वेचने या जङ्गल से लकडी काट कर वेचने का धन्धा न करे अथवा किसी से न करावे तो इससे संसार के लोगो का क्या काम रुक सकता है? जिसे लकडी या कोयले की आवश्यकता होगी, वह स्वय अपनी आवश्यकता पूरी कर सकता है। कर्मादान मे बताये गये व्यवसायो मे जितना अधिक पाप होता है, उतना अधिक आर्थिक लाभ भी नही होता। इसके सिवा ये व्यवसाय, प्रकृति का सौन्दर्य नष्ट करने वाले एव जनता को प्राकृतिक लाभ से वचित रखने वाले भी है।

इन सव वातो को दृष्टि मे रख कर श्रावकों को महान् पाप से वचाने एव उन्हे सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त

कराने के लिए ही भगवान् ने श्रावकों के लिए कर्मादान निषिद्ध कहे हैं । कर्मादान मे गिने गये व्यवसाय करने वाला समाज की दृष्टि मे भी प्रतिष्ठित नही माना जाता ।

पन्द्रह कर्मादान का त्याग, श्रावक के मूल व्रतों में गुण उत्पन्न करने वाला होने के साथ ही बुद्धि को निर्मल तथा चित्त मे समाधि रखने वाला है और आत्मा को कल्याण की ओर बढाने वाला है । इसलिए श्रावक को इन पन्द्रह कर्मादानो का त्याग करना चाहिए । इनके द्वारा आजीविका नही करनी चाहिए ।

पन्द्रह कर्मादान, सातवें व्रत के अतिचारो मे हैं । सातवे व्रत के २० अतिचार हैं जिनमे से १५ अतिचार, १५ कर्मादान ही कहाते हैं और इनसे पहले पांच अतिचार दूसरे बतायें गये हैं । श्रावक को इन २० अतिचारो से बचते रहना चाहिए ।



अनर्थदण्ड विरमण व्रत

श्रावक के बारह व्रतो में से आठवें और तीन गुण व्रतों में से तीसरे व्रत का नाम 'अनर्थदण्ड विरमणव्रत" है। अनर्थदण्ड किसे कहते हैं, यह बताने के लिए टीकाकार कहते हैः—

अर्थः प्रयोजनम्, गृहस्थस्य क्षेत्रवास्तुधनधान्यशरीर-परिपालनादिविषयं, तदर्थे आरम्भो भूतोपमर्दोऽर्थ-दण्ड ।

दण्डो-निग्रहो यातना विनाश इति पर्यायाः, अर्थेन प्रयोजनेन दण्डोऽर्थदण्ड । स चैवंभूत उपमर्दनलक्षणदण्ड· क्षेत्रादि—प्रयोजनमपेक्षमाणोऽर्थदण्ड उच्यते। तद्विपरीतोऽनर्थ-दण्ड· ।

अर्थात्—अर्थ यानी प्रयोजन । गृहस्थ को खेत, घर, धन, धान्य या शरीर पालन आदि कामो के लिए आरम्भ द्वारा भूतोपमर्दन करना पडता है, वह भूतोपमर्दन अर्थ दण्ड है । दण्ड, निग्रह, यातना और विनाश ये चार पर्याय हैं। किसी कार्य से, यानी प्रयोजन से दिया गया दण्ड अर्थ-वाची शब्द दण्ड है और दण्ड का लक्षण है भूतो का उपमर्दन, यानि खेत घर आदि के सिलसिले मे भूतो (जीवो) का उपमर्दन अर्थदण्ड है और इसके विपरीत अर्थात् बिना

किसी प्रयोजन के निष्कारण ही भूतों का उपमर्दन करना अनर्थ दण्ड है ।

टीकाकार ने यहा स्पष्ट कर दिया है कि अर्थदण्ड किसे कहते हैं और अनर्थ दण्ड किसे कहते है ? किसी आवश्यक कार्य के आरम्भ समारभ मे त्रस और स्थावर जीवो को जो कष्ट होता है वह अर्थदण्ड है और निष्प्रयोजन ही, विना किसी कार्य के केवल हास्य कौतूहल अविवेक या प्रमादवश जीवो को कष्ट देना अनर्थदण्ड है । जैसे कोई आदमी हाथ मे कुल्हाडो लिये जा रहा है । उसने चलते-चलते निष्कारण ही किसी वृक्ष पर कुल्हाडी मार दी । अथवा कोई आदमी हाथ मे कुदाली लिए जा रहा है । उसने व्यर्थ ही जमीन पर कुदाली मार दी । इसी तरह किसी के हाथ मे लकडी होने से वैठे हुए जानवर पर मार दी तो यह अनर्थदण्ड है । इस तरह के अनर्थदण्ड से निवृत्त होना, ऐसे अनर्थदण्ड को त्यागने की प्रतिज्ञा करना, अनर्थ-दण्ड विरमण व्रत है ।

श्रावक ने मूल व्रत स्वीकार करते समय जिन वातो का आगार रखा है, उस छूट का उपयोग करने मे अर्थ अनर्थ यानी सार्थक और निरर्थक का अन्तर समझ कर निरर्थक उपयोग से वचना अनर्थदण्ड विरमण व्रत है । अनर्थदण्ड विरमण व्रत का उद्देश्य अर्थ अनर्थ को जान कर अनर्थ से वचना है, निष्कारण ही किसी त्रस या स्थावर जीव को कष्ट देने से वचना है अर्थात् यह कार्य मेरे लिए आवश्यक है या नही, इस वात का विवेक करके उन कार्यों से वचना है, जिनके किये विना अपनी कोई आवश्यकता नही रुकती है और जिनके करने से किन्ही जीवो को निष्कारण ही कष्ट होता है ।

श्रावक होने के कारण इस बात का ध्यान रखना उसका कर्त्तव्य है कि मेरे द्वारा वही कार्य हो, मैं उसी आरम्भ-समारम्भ मे पड़ूं जिसका करना मेरे लिए आवश्यक है और जिसके करने से मेरा कोई उद्देश्य पूरा होता है। इस तरह का ध्यान रख कर उसे ऐसा कोई कार्य न करना चाहिए, जिससे किसी उद्देश्य विशेष की पूर्ति नही होती, जिसके किये विना कोई आवश्यकता नही रुकती और जो केवल प्रमाद, कौतूहल अथवा रूढि परम्परा के कारण किये जाते है। श्रावक के लिए आरम्भ या हिंसा खुली है, फिर भी श्रावक इस छूट का उपयोग केवल सार्थक कार्यों मे ही कर सकता है, निरर्थक कार्यों मे नही कर सकता। इसलिए श्रावक को प्रत्येक कार्य के विषय मे यह विचार कर लेना चाहिए कि मेरे द्वारा किया जाने वाला यह कार्य मेरे किस आवश्यक उद्देश्य की पूर्ति करता है? मेरा यह कार्य सार्थक है या निरर्थक? और इस तरह का विवेक करके उसे उन कार्यों से सर्वथा बचना चाहिए जो किसी उद्देश्य को पूरा नही करते है, किन्तु निरर्थक हैं। इस तरह के निरर्थक कार्य चाहे रूढि परम्परा के नाम पर किये जाते हो अथवा और किसी कारण से श्रावक को तो अनर्थदण्ड-विरमण व्रत स्वीकार करके ऐसे निरर्थक कार्य त्याग ही देने चाहिए।

आजकल रूढि परम्परा के नाम पर ऐसे अनुचित कार्य भी किये जाते हैं, जो किसी तरह लाभप्रद होने के बदले हानिप्रद ही होते है। इस तरह के कामो के औचित्य अनौचित्य के विषय मे दूसरे लोग विचार करें या न करें और जो अनुचित निरर्थक अथवा हानिप्रद कार्य है, उन्हे त्यागें, या न त्यागे, लेकिन श्रावक को तो इस विषय में

विवेक करना ही चाहिए और रूढि के गुलाम न रह कर उन कामो को त्यागना ही चाहिए, जो अनुचित हानिप्रद अथवा निरर्थक है। ऐसा करने पर श्रावक हानि से भी वच सकता है, व्यर्थ के कर्म वन्ध से भी वच सकता है, चित्त को समाधि भाव मे भी रख सकता है और मूल व्रतो का पूरी तरह पालन करने मे भी समर्थ हो सकता है।

जिस व्यक्ति ने पूर्ण त्यागवृत्ति धारण नही की है, उस व्यक्ति को जीवन-निर्वाह के लिए अथवा गृहकार्य चलाने के लिए अर्थ-दण्ड का पाप करना ही पडता है। यह पाप आलस्य मे पडे रहने, उद्योग त्याग देने अथवा अकर्मण्य वन वैठने से नही छूटता किन्तु तभी छूटता है, जव पूर्णतया त्यागवृत्ति धारण की जावे। लेकिन जव तक पूर्ण त्यागवृत्ति स्वीकार नही की है, तव तक अपूर्णावस्था मे अल्पपाप और महापाप का विवेक करके महापाप से तो वचना चाहिए। यह व्रत विशेषत इसी वात की प्रतिज्ञा कराता है कि मैं प्रत्येक कार्य के सम्वन्ध मे विवेक करूंगा और अनर्थ दण्ड से वचूंगा। इस व्रत का उद्देश्य प्रत्येक कार्य के विपय मे विवेक करके अनर्थदण्ड से वचना और व्यर्थ के पाप से आत्मा को वचाये रखना है।

अर्थ-दण्ड और अनर्थ-दण्ड की व्याख्या कुछ विचित्र सी है। जो कार्य एक व्यक्ति के लिए अर्थ दण्ड है, वही कार्य दूसरे व्यक्ति के लिए अनर्थ-दण्ड हो सकता है। इस-लिए इस विपय का कोई निर्णय नही दिया जा सकता कि कौनसा कार्य साधारणतया अर्थदण्ड है और कौनसा अनर्थ-दण्ड है क्योकि प्रत्येक मनुष्य की परिस्थिति एकसी नही होती, पृथक्-पृथक् होती है। इसका निर्णय प्रत्येक व्यक्ति

स्वयं ही अपने विवेक की सहायता से कर सकता है ।

शास्त्रकारो ने अनर्थदण्ड के प्रधानत. चार भेद किये हैं । वे कहते है—

अरणत्थादण्डे चउविहे पण्णत्ते तंजहा, अवज्झारणाचरिए, पमायाचरिए, हिंसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे ।

अर्थात् अनर्थ-दण्ड चार प्रकार का होता है-अपध्यानाचरित, प्रमादाचरित, हिंसा मे सहायक होना और पाप-कर्म का उपदेश देना ।

(१) अपध्यान

अपध्यान किसे कहते हैं, इसके लिए कहा है—अप्रशस्त ध्यानमपध्यानम् ।

अर्थात्—जो ध्यान अप्रशस्त यानी बुरा है, वह अपध्यान कहलाता है ।

ध्यान का अर्थ है-अन्तर्मूहूर्त्त मात्र किसी प्रकार के विचारो मे चित्त की एकाग्रता होना । निरर्थक बुरे विचारो में चित्त को एकाग्र करने से जो अनर्थ-दण्ड होता है, शास्त्रकार उसे अपध्यानाचरित, अनर्थ-दण्ड कहते हैं, यानी बुरे विचारो से होने वाला अनर्थ-दण्ड ।

अपध्यान के शास्त्रकारो ने आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो भेद किये हैं । आर्तध्यान 'आ' और 'ऋत' इन दो शब्दो से बना है । ऋत का अर्थ दुख है । ऋत शब्द मे

'आ' उपसर्ग लगा कर ऋत को प्रबल बनाया गया है। इस प्रकार आर्तध्यान का अर्थ दु ख के कारण उत्पन्न बुरे विचारो मे मन को एकाग्र करना है । शास्त्रकारो ने आर्तध्यान के भी चार भेद किये हैं—

(१) अनिष्ट का संयोग होने पर, (२) इष्ट का वियोग होने पर, (३) रोगादि होने पर और (४) इष्ट की प्राप्ति के लिए उत्पन्न चिन्ता या दुःख । इस चार तरह के दु.ख के होने पर पीडा से अथवा दु.ख से मुक्त होने के लिए उत्पन्न बुरे विचारो मे मन का एकाग्र होना आर्तध्यान है । आर्तध्यान के इन चारो भेदो के विषय मे कुछ अधिक स्पष्टीकरण होना आवश्यक है, जो नीचे किया जाता है ।

अपनी हानि करने वाले, या जिस हानि को हमने अपनी हानि मान रखी है वह हानि करने वाले का संयोग होना अनिष्ट-सयोग, यानी न चाहा हुआ मिलन, कहलाता है । अपना या अपने स्वजन का शरीर, धन आदि नष्ट करने वाले—विष, अग्नि शस्त्र, हिंस्र पशु, दुष्ट या दैत्यादि भयंकर प्राणियो का संयोग हो जाना अनिष्ट-सयोग से उत्पन्न दु'ख के कारण, अथवा ऐसे अनिष्ट-सयोग से छुटकारा पाने के लिए, मन मे जो बुरे तथा दु ख भरे विचार उत्पन्न होते है, उन विचारो मे मन का तल्लीन होना, आर्तध्यान का पहला भेद है ।

अपने प्रिय राज्य, धन, स्त्री, पुत्र प्रभृति के वियोग का दु'ख होने पर जो दु खपूर्ण बुरे विचार उत्पन्न होते हैं, उन बुरे विचारो मे मन का एकाग्र होना, आर्तध्यान का दूसरा भेद है ।

स्वयं ही अपने विवेक की सहायता से कर सकता है।

शास्त्रकारो ने अनर्थदण्ड के प्रधानत· चार भेद किये हैं। वे कहते हैं—

अणत्थादण्डे चउविहे पण्णत्ते तजहा, अवज्झाणाचरिए, पमायाचरिए, हिसप्पयाणे, पावकम्मोवएसे ।

अर्थात् अनर्थ-दण्ड चार प्रकार का होता है-अपध्यानाचरित, प्रमादाचरित, हिंसा में सहायक होना और पाप-कर्म का उपदेश देना ।

(१) अपध्यान

अपध्यान किसे कहते हैं, इसके लिए कहा है—अप्रशस्तं ध्यानमपध्यानम् ।

अर्थात्—जो ध्यान अप्रशस्त यानी बुरा है, वह अपध्यान कहलाता है ।

ध्यान का अर्थ है-अन्तर्मूहूर्त्त मात्र किसी प्रकार के विचारो मे चित्त की एकाग्रता होना । निरर्थक बुरे विचारो मे चित्त को एकाग्र करने से जो अनर्थ-दण्ड होता है, शास्त्र-कार उसे अपध्यानाचरित, अनर्थ-दण्ड कहते है, यानी बुरे विचारो से होने वाला अनर्थ-दण्ड ।

अपध्यान के शास्त्रकारो ने आर्तध्यान और रौद्रध्यान ये दो भेद किये हैं। आर्तध्यान 'आ' और 'ऋत' इन दो शब्दो से बना है। ऋत का अर्थ दुख है। ऋत शब्द मे

'आ' उपसर्ग लगा कर ऋत को प्रबल बनाया गया है। इस प्रकार आर्तध्यान का अर्थ दुःख के कारण उत्पन्न बुरे विचारो में मन को एकाग्र करना है। शास्त्रकारो ने आर्तध्यान के भी चार भेद किये हैं—

(१) अनिष्ट का संयोग होने पर, (२) इष्ट का वियोग होने पर, (३) रोगादि होने पर और (४) इष्ट की प्राप्ति के लिए उत्पन्न चिन्ता या दुःख। इस चार तरह के दुःख के होने पर पीड़ा से अथवा दुःख से मुक्त होने के लिए उत्पन्न बुरे विचारो मे मन का एकाग्र होना आर्तध्यान है। आर्तध्यान के इन चारो भेदो के विषय मे कुछ अधिक स्पष्टीकरण होना आवश्यक है, जो नीचे किया जाता है।

अपनी हानि करने वाले, या जिस हानि को हमने अपनी हानि मान रखी है वह हानि करने वाले का सयोग होना अनिष्ट-सयोग, यानी न चाहा हुआ मिलन, कहलाता है। अपना या अपने स्वजन का शरीर, धन आदि नष्ट करने वाले—विष, अग्नि शस्त्र, हिंस्र पशु, दुष्ट या दैत्यादि भयकर प्राणियो का संयोग हो जाना अनिष्ट-सयोग से उत्पन्न दुःख के कारण, अथवा ऐसे अनिष्ट-सयोग से छुटकारा पाने के लिए, मन मे जो बुरे तथा दुःख भरे विचार उत्पन्न होते हैं, उन विचारो मे मन का तल्लीन होना, आर्तध्यान का पहला भेद है।

अपने प्रिय राज्य, धन, स्त्री, पुत्र प्रभृति के वियोग का दुःख होने पर जो दुःखपूर्ण बुरे विचार उत्पन्न होते हैं, उन बुरे विचारो मे मन का एकाग्र होना, आर्तध्यान का दूसरा भेद है।

आर्तध्यान का तीसरा भेद शारीरिक रोगों से होने वाले दुःख के कारण, अथवा ऐसे दुःख से मुक्ति मिलने की चिन्ता के कारण, उत्पन्न दुःखपूर्ण बुरे विचारो मे मन का एकाग्र होना है और आर्तध्यान का चौथा भेद है, विषय भोग के अप्राप्त पदार्थों के कारण दुःख या प्राप्ति की चिन्ता के कारण उत्पन्न दुःखपूर्ण बुरे विचारो मे मन का एकाग्र होना। उदाहरण के लिए, 'हाय ! मुझे वह चीज क्यों नही मिली ! मैं वह चीज कैसे प्राप्त करूं ! आदि।'

मतलब यह कि अनिष्ट के संयोग से, इष्ट के वियोग से, रोग की प्राप्ति से और भोग की अभिलाषा से पीडित व्यक्ति पीडा से घबरा कर जो बुरे विचार करता है, उन बुरे विचारो मे मन का लगना आर्तध्यान है।

अपध्यान का दूसरा भेद रौद्रध्यान है। स्वार्थ, क्रोध, मोह, लोभ, भय आदि के वश होकर दूसरे की हानि के लिए उत्पन्न विचारो में मन का एकाग्र होना रौद्रध्यान है। रौद्र का अर्थ है, भयङ्कर। जो दूसरे के लिए भयङ्कर है, ऐसे विचार मे एकाग्र होना रौद्रध्यान है।

शास्त्रकारो ने रौद्रध्यान के भी "हिंसानुबन्धी, मोसानुबन्धी, तेणाणुबन्धी और सारक्खणाणुबन्धी" ये चार भेद किये हैं। अपने या दूसरे के द्वारा मारे, कूटे, बांधे या दूसरी तरह से कष्ट पाते हुए व्यक्ति को देख कर या उसका करुण अथवा आर्तनाद सुनकर प्रसन्न होना, अथवा अमुक प्राणी को किस तरह मारना, बांधना या यह काम किसके द्वारा कराना चाहिए, यह काम करने मे कौन चतुर है, इस काम को कौन शीघ्र कर सकता है आदि विषयक भयङ्कर विचारो

में मन को लगाना हिंसानुबन्धी नामक रौद्रध्यान का पहला भेद है।

रौद्रध्यान का दूसरा भेद मोसाणुबन्धी यानी मृषानुबन्धी है। झूठ को सफल बनाने, सच्ची बात को झूठी और झूठी को सच्ची ठहराने के उपाय विचारने में, अपना स्वार्थ साधने, लोगो की भावुकता या उदारता का अनुचित लाभ उठाने के लिए और लोगो को अपने प्रभाव मे लाने के लिए कोई झूठा प्रपंच रचने, झूठे शास्त्र आदि बनाने का उपाय सोचने मे मन को एकाग्र करना, मृषानुबन्धी रौद्रध्यान है।

चोरी, डकैती अथवा ऐसे ही दूसरे कार्य के लिए, परधन, परदारा आदि का हरण करने के विचार मे तल्लीन होना, उपाय सोचना, ऐसे कार्यों मे हर्ष मानना, स्तेनानुबन्धी रौद्रध्यान है।

अपने को जो वस्तु प्राप्त है, उसकी रक्षा के लिए स्त्री, भूमि, धन या सुख के अन्य साधनो को दूसरे से बचाने के लिए, कोई उन्हे छीन न सके या उनमे भाग न बटा सके, इस सम्बन्धी अपना मार्ग निष्कण्टक करने के लिए और ऐसी सामग्री पर अपना अधिकार बनाये रखने के लिए क्रूर विचारो मे मन का एकाग्र होना, सरक्षणानुबन्धी नाम का रौद्रध्यान है।

(२) प्रमादाचरित

अनर्थदण्ड का दूसरा भेद प्रमादाचरित है। शास्त्रकारो ने प्रमाद के पाच भेद किये है। आत्मा संसार मे क्यो भटकता है, यह बताते हुए शास्त्रकार कहते हैं—

वहुत लोगो की यह आदत होती है कि वे दूसरे को पाप कर्म करने के लिए उपदेश देते रहते हैं। वकरा मारो, पशु वलि करो, चोरी करो, राज्यद्रोह करो या राष्ट्रोत्थान मे बाधक बनो आदि उपदेश देना अनर्थदण्ड का चौथा भेद है।

अनर्थदण्ड के जो चार भेद बताये गये हैं, उन चारो को समझ कर श्रावक के लिए अनर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करना ही उचित है। इसके लिए आत्मा को सावधान रखने एव प्रत्येक कार्य के विषय मे विवेक यानी विचार करने की आवश्यकता है। जो प्रत्येक कार्य के विषय मे अर्थ-अनर्थ का विवेक करता है और निरर्थक कामो से वचता है, वही अनर्थदण्ड के पाप से वचा रह सकता है। अनर्थदण्ड द्रव्य से तो प्राणी, भूत, जीव, सत्व का विनाश करता है और भाव से आत्मा की हानि करता है। व्यवहार मे दूसरे जीवो को कष्ट पहुचाना या दूसरे जीवो को कष्ट पहुचाने का विचार करना, निश्चय मे अपने आत्मा की ही हिंसा है। इसलिये श्रावको को अनर्थदण्ड का त्याग करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि दण्ड तो सर्वथा त्याज्य होना चाहिए, फिर अर्थ-दण्ड और अनर्थदण्ड ये भेद करके अनर्थ-दण्ड ही त्यागने का क्यो कहा गया ? दण्ड मात्र त्यागने को क्यो नही कहा गया ? इस कथन का उत्तर यह है कि वास्तव मे है तो दण्ड मात्र त्याज्य, लेकिन गृहस्थो के लिए दण्ड का सर्वथा त्याग सम्भव नही, इसलिए गृहस्थो के वास्ते दण्ड के दो भेद किये गये है और कहा गया है कि गृहस्थ अनर्थदण्ड का त्याग करे। गृहस्थ अर्थदण्ड का त्याग नही

कर सकता। वह जितना हो सके उतना अर्थदण्ड से वच तो अवश्य सकता है, लेकिन अनर्थदण्ड की तरह अर्थ-दण्ड का भी सर्वथा त्याग करना उसके लिए सम्भव नही हो सकता।

यदि कोई गृहस्थ अर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करेगा तो बहुत सम्भव है कि वह अर्थदण्ड के वदले अनर्थदण्ड का पाप करने मे पड़ जाएगा। उदाहरण के लिए एक गृहस्थ न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन करता है और आजीविका चलाता है। इस कार्य मे उससे अर्थदण्ड तो होता ही है। अब यदि वह अर्थदण्ड से वचने के लिए न्यायपूर्वक की जाने वाली आजीविका का त्याग कर देता है तो उस दशा मे वह भूखो मरने से तो रहा। फिर तो उसके लिए चोरी, डकैती, ठगाई अथवा ऐसे ही दूसरे कार्य करना आवश्यक हो जाता है और चोरी अथवा चोरी की ही तरह के दूसरे कार्य करने पर मूलव्रत की भी घात होगी और अर्थदण्ड के स्थान पर अनर्थदण्ड होगा। इस प्रकार गृहस्थ होते हुए भी अर्थदण्ड सर्वथा त्यागने का प्रयत्न करना अपने को अनर्थदण्ड मे डालना है। ज्ञानियो ने इस वात को दृष्टि मे रख कर ही गृहस्थो के लिए अनर्थदण्ड सर्वथा त्यागने और अर्थदण्ड से यथाशक्ति वचने का विवान किया है। हा, किसी समय विशेष के लिए गृहस्थ अर्थदण्ड से भी वच सकता है, जैसे कि सामायिक, पौषध आदि व्रतो के समय अर्थदण्ड सर्वथा त्यागा जाता है।

आजकल वहुत से लोग गृहस्थ श्रावक को अर्थदण्ड का विना समझे या समझाये त्याग कराते है। परिणाम यह होता है कि 'लेने गई पूत और खो आई पति' कहावत के

वहुत लोगो की यह आदत होती है कि वे दूसरे को पाप कर्म करने के लिए उपदेश देते रहते हैं। वकरा मारो, पशु वलि करो, चोरी करो, राज्यद्रोह करो या राष्ट्रोत्थान मे बाधक बनो आदि उपदेश देना अनर्थदण्ड का चौथा भेद है।

अनर्थदण्ड के जो चार भेद वताये गये हैं, उन चारो को समझ कर श्रावक के लिए अनर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करना ही उचित है। इसके लिए आत्मा को सावधान रखने एवं प्रत्येक कार्य के विषय मे विवेक यानो विचार करने की आवश्यकता है। जो प्रत्येक कार्य के विषय मे अर्थ-अनर्थ का विवेक करता है और निरर्थक कामो से वचता है, वही अनर्थदण्ड के पाप से बचा रह सकता है। अनर्थदण्ड द्रव्य से तो प्राणी, भूत, जीव, सत्व का विनाश करता है और भाव से आत्मा की हानि करता है। व्यवहार मे दूसरे जीवो को कष्ट पहुंचाना या दूसरे जीवो को कष्ट पहुचाने का विचार करना, निश्चय मे अपने आत्मा की ही हिंसा है। इसलिये श्रावको को अनर्थदण्ड का त्याग करना चाहिए।

कहा जा सकता है कि दण्ड तो सर्वथा त्याज्य होना चाहिए, फिर अर्थ-दण्ड और अनर्थदण्ड ये भेद करके अनर्थ-दण्ड ही त्यागने का क्यो कहा गया? दण्ड मात्र त्यागने को क्यों नही कहा गया? इस कथन का उत्तर यह है कि वास्तव मे है तो दण्ड मात्र त्याज्य, लेकिन गृहस्थो के लिए दण्ड का सर्वथा त्याग सम्भव नहीं, इसलिए गृहस्थो के वास्ते दण्ड के दो भेद किये गये हैं और कहा गया है कि गृहस्थ अनर्थदण्ड का त्याग करे। गृहस्थ अर्थदण्ड का त्याग नही

कर सकता। वह जितना हो सके उतना अर्थदण्ड से बच तो अवश्य सकता है, लेकिन अनर्थदण्ड की तरह अर्थ-दण्ड का भी सर्वथा त्याग करना उसके लिए सम्भव नही हो सकता।

यदि कोई गृहस्थ अर्थदण्ड का सर्वथा त्याग करेगा तो बहुत सम्भव है कि वह अर्थदण्ड के बदले अनर्थदण्ड का पाप करने मे पड़ जाएगा। उदाहरण के लिए एक गृहस्थ न्यायपूर्वक द्रव्योपार्जन करता है और आजीविका चलाता है। इस कार्य मे उससे अर्थदण्ड तो होता ही है। अब यदि वह अर्थदण्ड से बचने के लिए न्यायपूर्वक की जाने वाली आजीविका का त्याग कर देता है तो उस दशा मे वह भूखो मरने से तो रहा। फिर तो उसके लिए चोरी, डकैती, ठगाई अथवा ऐसे ही दूसरे कार्य करना आवश्यक हो जाता है और चोरी अथवा चोरी की ही तरह के दूसरे कार्य करने पर मूलव्रत की भी घात होगी और अर्थदण्ड के स्थान पर अनर्थदण्ड होगा। इस प्रकार गृहस्थ होते हुए भी अर्थदण्ड सर्वथा त्यागने का प्रयत्न करना अपने को अनर्थदण्ड मे डालना है। ज्ञानियो ने इस बात को दृष्टि मे रख कर ही गृहस्थो के लिए अनर्थदण्ड सर्वथा त्यागने और अर्थदण्ड से यथाशक्ति बचने का विधान किया है। हां, किसी समय विशेष के लिए गृहस्थ अर्थदण्ड से भी बच सकता है, जैसे कि सामायिक, पौषध आदि व्रतो के समय अर्थदण्ड सर्वथा त्यागा जाता है।

आजकल बहुत से लोग गृहस्थ श्रावक को अर्थदण्ड का बिना समझे या समझाये त्याग कराते है। परिणाम यह होता है कि 'लेने गई पूत और खो आई पति' कहावत के

अनुसार अर्थदण्ड के बदले अनर्थदण्ड गले पड जाता है। उदाहरण के लिए—यदि अर्थदण्ड से बचने के वास्ते स्वास्थ्य रक्षक कार्यों की उपेक्षा की जायेगी, उन्हे त्याग दिया जायेगा तो शरीर मे रोग होने पर उन भ्रष्ट दवाइयो का सेवन करना पडेगा, जिनके सेवन से महापाप होता है। अथवा अर्थदण्ड से बचने के लिए सब लोग कृषि करना त्याग दे तो क्या काम चल सकता है ? क्या उस दशा मे भूखो मरते हुए लोग, मास का सेवन न करेगे और भयंकर पाप मे न पड़ेगे ? खेती आदि करने मे अर्थदण्ड तो अवश्य होता है, लेकिन यह अनर्थदण्ड से बचाने वाला है।

मतलब यह कि गृहस्थो से अर्थदण्ड का त्याग कराना उन्हे अनर्थदण्ड मे डालना है। इस बात को दृष्टि मे रख कर ही शास्त्रकारो ने गृहस्थो पर अर्थदण्ड त्यागने का भार न डाल अनर्थदण्ड त्यागने का ही भार डाला है और इसी से इस व्रत का नाम अनर्थदण्ड विरमण व्रत है, जिसका सब जीवो के लिए अगीकार करने का विधान है।



अनर्थदण्ड विरमण व्रत के अतिचार

शास्त्रकारो ने अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाच अतिचार बताये हैं। कहा है—

अनत्थादण्डवेरमणस्स समणोयासगेणं पच अइयारा जाणियव्वा न समायरियव्वा, तं जहा-कदप्पे, कुक्कुइए, मोहरिए, सजुत्ताहिगरणे, उवभोगपरिभोगाइरित्ते।

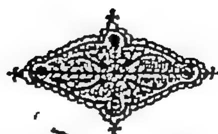
अर्थात्—अनर्थदण्ड विरमण व्रत के पाच अतिचार है जो जानने योग्य हैं परन्तु आचरण करने योग्य नही हैं। वे पांच अतिचार इस प्रकार है—कन्दर्प, कौत्कुच्य, मौखर्य, सयुक्ताधिकरण, उपभोगपरिभोगातिरिक्त।

१ पहला अतिचार कन्दर्प है। कामवासना प्रवल करने वाले और मोह उत्पन्न करने वाले शब्दो का हास्य या व्यङ्ग मे दूसरे के लिए उपयोग करना कन्दर्प नाम का पहला अतिचार है।❀ (सरल चित्त से हास्योत्पादक शब्दो का

❀ काम-वासना प्रवल करने वाले या मोह उत्पन्न करने वाले शब्दों का लेखन-कला द्वारा प्रयोग करना भी इसी अतिचार मे है।

अनुसार अर्थदण्ड के बदले अनर्थदण्ड गले पड जाता है। उदाहरण के लिए—यदि अर्थदण्ड से बचने के वास्ते स्वास्थ्य-रक्षक कार्यों की उपेक्षा की जायेगी, उन्हे त्याग दिया जायेगा तो शरीर मे रोग होने पर उन भ्रष्ट दवाइयो का सेवन करना पडेगा, जिनके सेवन से महापाप होता है। अथवा अर्थदण्ड से बचने के लिए सब लोग कृषि करना त्याग दे तो क्या काम चल सकता है ? क्या उस दशा मे भूखो मरते हुए लोग, मास का सेवन न करेगे और भयंकर पाप मे न पड़ेगे ? खेती आदि करने मे अर्थदण्ड तो अवश्य होता है, लेकिन यह अनर्थदण्ड से बचाने वाला है।

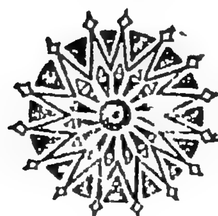
मतलब यह कि गृहस्थो से अर्थदण्ड का त्याग कराना उन्हे अनर्थदण्ड मे डालना है। इस बात को दृष्टि मे रख कर ही शास्त्रकारो ने गृहस्थो पर अर्थदण्ड त्यागने का भार न डाल अनर्थदण्ड त्यागने का ही भार डाला है और इसी से इस व्रत का नाम अनर्थदण्ड विरमण व्रत है, जिसका सब जीवो के लिए अगीकार करने का विधान है।



वस्त्रादि का धारण करना या उन्हे वार-वार वदलना, अथवा आनन्द के लिए अनावश्यक ही वार-वार स्नान करना आदि उपभोग-परिभोगइरित्त मे गर्भित हैं ।

श्रावको को इन पांचो अतिचारो का स्वरूप समझ कर इनसे वचते रहना चाहिए । ऐसा करने से उनका व्रत निर्मल रहेगा और वे आत्मा का कल्याण कर सकेंगे ।

इन तीन गुणव्रतो का विस्तार जितना भी किया जाए, हो सकता है । सारे संसार की समालोचना इन व्रतो के वर्णन मे हो सकती है—जो महाज्ञानी लोग ही कर सकते हैं । संक्षेप मे ही हमने स्वरूप समझाने की चेष्टा की है । आशा है, सुज्जन इससे तत्त्वलाभ प्राप्त करके आत्मोत्थान के लिए प्रवृत्त होगे । इत्यलम् ।



सहज प्रयोग अतिचार मे नही है ।)

२. दूसरा अतिचार कौत्कुच्य है । आंख, नाक, मुंह, भृकुटि आदि अपने अंगों को विकृत बनाकर भांड या विदूषक की तरह लोगों को हंसाना कौत्कुच्य नाम का दूसरा अतिचार है । सभ्य लोगो के लिए ऐसा करना, प्रतिष्ठा की दृष्टि से भी अनुचित है क्योकि ये कार्य प्रतिष्ठा का नाश करने वाले होते हैं ।

३ तीसरा अतिचार मौखर्य है । निष्कारण ही अधिक बोलना, निष्प्रयोजन और अनर्गल बातें कहना, थोडी बात से काम चल सकने पर भी अधिक बात बोलना मौखर्य नाम का तीसरा अतिचार है ।

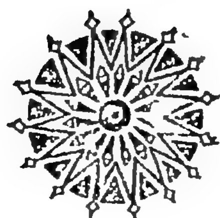
४. चौथा अतिचार सयुक्ताधिकरण है । कूटने, पीसने और गृहकार्य के दूसरे साधन-जैसे ऊखल, मूसल, चक्की, झाड़ू, सूप, सिला लोढी आदि वस्तुओ का अधिक और निष्प्रयोजन सग्रह रखना सयुक्ताधिकरण नाम का चौथा अतिचार है ।

५ पांचवा अतिचार उपभोग-परिभोगातिरिक्त है । उपभोग-परिभोग परिमाणव्रत स्वीकार करते हुए जो पदार्थ मर्यादा मे रखे गये हैं उनमें अत्यधिक आसक्त रहना, उनमें आनन्द मान कर उनका बार-बार उपयोग करना, उनका उपयोग जीवन निर्वाह के लिए नही किन्तु स्वाद या आनन्द के लिए करना, उपभोग-परिभोग का पाचवां अतिचार है । उदाहरण के लिए पेट भरा होने पर भी स्वाद के लिए खाना अथवा आवश्यकता न होने पर भी शौक के लिए

वस्त्रादि का धारण करना या उन्हें वार-वार वदलना, अथवा आनन्द के लिए अनावश्यक ही वार-बार स्नान करना आदि उपभोग-परिभोगइरित्त मे गर्भित हैं।

श्रावको को इन पांचों अतिचारो का स्वरूप समझ कर इनसे वचते रहना चाहिए। ऐसा करने से उनका व्रत निर्मल रहेगा और वे आत्मा का कल्याण कर सकेंगे।

इन तीन गुणव्रतो का विस्तार जितना भी किया जाए, हो सकता है। सारे संसार की समालोचना इन व्रतो के वर्णन मे हो सकती है—जो महाज्ञानी लोग ही कर सकते हैं। संक्षेप मे ही हमने स्वरूप समझाने की चेष्टा की है। आशा है, सुज्ञजन इससे तत्त्वलाभ प्राप्त करके आत्मोत्थान के लिए प्रवृत्त होगे। इत्यलम्।



चार शिक्षाव्रत

शिक्षा-व्रत

वृक्ष जब हरा-भरा सघन छायायुक्त होता है और उस पर फल-फूल होते है, तब वह बडा ही मनोहर, रम्य तथा सुन्दर दिखाई देता है एव देखने वाले को आह्लादित करता है। किन्तु वृक्ष के ऐसा होने का कारण उसके मूल का हरा-भरा होना ही है। वृक्ष के मूल का जब तक सिंचन होता रहता है और उसको पोषक द्रव्य की प्राप्ति होती रहती है, तभी तक वृक्ष की मनोहरता और रम्यता बनी रहती है।

जिस प्रकार वृक्ष की मनोहरता और रम्यता का कारण उसका मूल है, उसी प्रकार आत्मा को परम सुख एवं मोक्ष की प्राप्ति का कारण सम्यक्ज्ञान, दर्शन तथा चारित्रयुक्त त्यागमय जीवन है। ऐसा जीवन दो तरह का होता है। एक है साधुतापूर्ण जीवन और दूसरा है श्रावकत्व-पूर्ण जीवन। जिनका जीवन साधुतापूर्ण है, उनके लिए तो सासारिक-बन्धनो के सभी तन्तु टूट जाते हैं और उनका प्रयत्न मोक्ष प्राप्त करने का ही रहता है। किन्तु गृहस्थ-श्रावक के सामने अनेक सांसारिक झंझटे एव अनुकूल प्रतिकूल आकर्षण रहते हैं तथा उन्हे कौटुम्बिक और जीवन यापन सम्बन्धी बाधाएं भी घेरे रहती है। इन सब के होने पर भी श्रावक के लिए आत्म-कल्याण के हेतु श्रावकत्वपूर्ण

जीवन बिताना आवश्यक है। इस बात को दृष्टि मे रख कर ही शास्त्रकारो ने श्रावको के लिए पाच मूल व्रतो की रक्षा के उद्देश्य से, मूल व्रत को सिचन देने वाले तीन गुण-व्रतो और चार शिक्षा-व्रतो का विधान किया है। जिस प्रकार मूल को सिचन मिलता रहने पर ही वृक्ष हरा-भरा रहता है, उसी प्रकार श्रावक के पाच मूलव्रत भी तभी विशुद्ध रहेगे जब उन्हे गुणव्रतो और शिक्षाव्रतो द्वारा सिचन मिलता रहेगा।

शिक्षाव्रत स्वीकार करने का अर्थ है, आत्मा को जागृत रखकर शुद्ध दशा प्रकट करने के लिए विशेप उद्यमी बनाना। इसलिए अब यह देखते हैं कि श्रावक के बारह व्रतो मे से पिछले चार व्रतो को शिक्षाव्रत क्यो कहा जाता है? इन चार व्रतों से शेष आठ व्रतो का क्या सम्बन्ध है और इन चार व्रतो का पिछले आठ व्रतो पर क्या प्रभाव पडता है?

श्रावक जो व्रत स्वीकार करता है, वे सर्व देश से नहीं किन्तु एक देश से होते हैं। इसलिए श्रावक की त्याग-बुद्धि को सिचन मिलना अत्यावश्यक है। पांच अणुव्रतो को सिचन मिलना रहे, इसलिए तीन गुणव्रत स्वीकार करके अपनी आवश्यकताए सीमित कर दी जाती है और पुद्गलो मे आनन्द मानना त्याग कर जीवन-निर्वाह के लिये बहुत थोड़े पदार्थों का उपभोग किया जाता है। लेकिन यह वृत्ति तभी टिकी रह सकती है, जब आत्मा-अनात्मा का भान हो और पदार्थ तथा आत्मा का भेद-विज्ञान हो। सामायिकादि चार शिक्षाव्रत आत्म-भान को जागृत बनाये रखने और भेदविज्ञान स्थिर रखने के साधन हैं। इसलिए इन चार व्रतों का जितना भी अधिक आचरण किया जायेगा, पूर्व के

आठ व्रतो पर उतना ही अधिक प्रभाव पडेगा और वे उतने ही अधिक विशुद्ध होते जायेंगे ।

शिक्षाव्रत पूर्व के आठ व्रतो की भांति यावज्जीवन के लिए स्वीकार नही किये जाते हैं, किन्तु गृहकार्यादि से अवकाश पाकर उस अवकाश का सदुपयोग इन व्रतो के आचरण द्वारा करने का विधान है ।

सामायिक व्रत का आचरण करके श्रावक यह विचार करे कि मैंने जो स्थूल अहिंसादिव्रत स्वीकार किये है, उन व्रतो के द्वारा मुझ मे किस अश तक समभाव आया है ? इसी प्रकार दिक्-परिमाणादि व्रतो द्वारा मुझ मे सासारिक पदार्थों के प्रति कितनी विरक्ति आई है तथा मै आत्मा को समाधि भाव मे किस अश तक स्थिर कर सका हूँ ? सामायिक व्रत मूल व्रतो और गुण व्रतों की परीक्षा स्वरूप है । देशावकाशिक व्रत द्वारा कुछ समय के लिए विशेष आत्म-संयम किया जाता है एवं न्यूनतम सामग्री से अपनी आवश्यकताए पूरी करके सन्तोष वृत्ति की ओर बढा जाता है । ससार मे जिन भोगोपभोग के पदार्थों के लिए हाय-हाय मची रहती है, कलह और विग्रह होता रहता है, जिनके न मिलने से लोग दुखी रहते हैं, श्रावक इस देशावकाशिक व्रत को स्वीकार करके उन पदार्थों का अधिक से अधिक त्याग करता है और इस प्रकार ससार का दुख कैसे मिट सकता है, इस बात का आदर्श रखता है ।

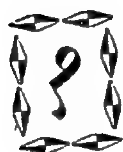
श्रावक जिस उच्च स्थिति पर पहुंचना चाहता है और जिस पूर्ण विरक्ति का इच्छुक है, पोषधोपवास द्वारा उस स्थिति पर पहुचने तथा विरक्त दशा प्राप्त करने का अभ्यास

करता है और अपने जीवन को उच्चता की ओर ले जाता है अर्थात् आत्मज्योति जगाता है ।

ऊपर कहे गये तीनों व्रत अपनी आत्मा को उन्नत बनाने के लिए अभ्यास रूप हैं, लेकिन चौथा अतिथिसंविभाग व्रत जैनधर्म की विशालता और विश्व–बन्धुत्व की भावना का परिचय देता है । इस व्रत का विशेष सम्बन्ध बाह्य जगत् से है । इस व्रत का प्रचलित नाम 'अतिथिसंविभाग' है, लेकिन शास्त्रो मे इस व्रत का नाम 'अहा संविभाग' बताया गया है । इस नाम का यह भाव भी है कि अपने खान-पान के पदार्थों के प्रति ममत्व या गृद्धि भाव न रख कर उनका भी विभाग करना और साधु आदि को देने की भावना रखना । यद्यपि इस व्रत के पाठ मे मुख्यतया साधु की ही है, लेकिन आशय बहुत ही गहन है, लक्ष्यार्थ बहुत विशाल है । इस प्रकार यह व्रत, श्रावक की उदारता और विशाल-भावना का बाह्य जगत् को परिचय देता है ।

साराश यह है कि ये चारो शिक्षाव्रत श्रावक के जीवन को पवित्र, उन्नत तथा आदर्श बनाते है । साथ ही श्रावक को, उपस्थित सासारिक प्रसङ्गो मे न फसने देकर ससार-व्यवहार के प्रति जल–कमलवत् बनाये रखते है । इसलिए इन व्रतो का जितना भी अधिक आचरण किया जाये, उतना ही अधिक लाभ है ।





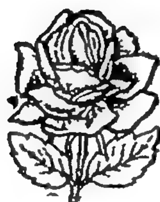
सामायिक व्रत

उपोद्घात

जैन समाज मे सामायिक का वहुत ही महत्त्व है। सामायिक करने के लिए उपदेश-आदेश दिया जाता है, आग्रह किया जाता है तथा यह प्रतिज्ञा भी कराई जाती है कि एक दिन या एक महीने मे तीन सामायिक अवश्य ही करूगा। दूसरे त्याग प्रत्याख्यान या श्रावकत्व विषयक आवश्यक योग्यता की उतनी अधिक अपेक्षा नही की जाती, जितनी सामायिक की की जाती है। साधु महात्मा और धार्मिक लोग सामायिक के लिये अधिक प्रेरणा करते भी देखे जाते हैं। उनकी सामायिक विषयक प्रेरणा को उचित एव हितावह मानने मे दो मत नही हो सकते क्योंकि सामायिक का महत्त्व ही ऐसा है। ऐसा होते हुए भी सामायिक के प्रति पहले के लोगो मे जैसी श्रद्धा थी या वर्तमान वृद्ध लोगो मे जैसी श्रद्धा देखी जाती है और वे सामायिक विषयक उपदेश-आदेश अथवा प्रेरणा का जितना आदर करते हैं, उतना आदर या सामायिक के प्रति वैसी श्रद्धा वर्तमान नवयुवको मे नही देखी जाती। इस अन्तर का कोई कारण भी अवश्य ही होना चाहिए। विचार करने पर इसका यही कारण जान पडता है कि साधु महात्माओ अथवा धार्मिक गृहस्थो की ओर से सामायिक करने के लिए की जाने वाली प्रेरणा के परिणाम मे सामायिक की विशद व्याख्या,

सामायिक का महत्व एवं उद्देश्य आदि समझाने का प्रयत्न उतना नही किया जाता है । वर्तमान नवयुवको के सामने न तो कोई ऐसा आदर्श ही है, न साहित्य ही है, जिसको देखकर सामायिक की ओर उनकी रुचि बढे । सामायिक विषयक जो थोडासा साहित्य है, वह भी ऐसा है कि जिसे थोडे से वे लोग ही जान सकते हैं, जिनकी गणना विद्वानों मे है । जन साधारण मे सामायिक विषयक साहित्य का प्रचार नहीं है । इस कारण सामायिक करने वाले लोगों मे से अनेक लोग, सामायिक के मूल उद्देश्य के विरुद्ध, सामायिक दशा मे होने पर भी, ऐसे-ऐसे काम कर डालते हैं, जिनका करना उस समय सर्वथा अनुचित है । उस समय सामायिक ग्रहण किये हुए व्यक्ति को, एकात मे बैठ कर परमात्मा का भजन-स्मरण या ध्यान-चिंतन आदि करना चाहिए । परन्तु कई लोग आत्म-शुद्धि के लिए ऐसे कार्य करने के बदले सामायिक लेकर बैठे होने पर भी ऐसी बातें या ऐसे कार्य करते है, जिनके कारण समीप बैठे हुए अन्य सामायिक व्रतधारी लोगो के चित्त की भी एकाग्रता नष्ट होती है तथा उनका चित्त भी उन बातो या कार्यों की ओर खिच जाता है । जहां धर्म-कार्य के लिये अनेक लोग एकत्रित होते है, ऐसे पौषधशाला आदि स्थानो पर तो सामायिक करने वालो का चित्त विशेष एकाग्र रहना चाहिए, चित्त मे स्थिरता होनी चाहिए, किन्तु सामायिक का उद्देश्य एवं सामायिक की विधि न जानने वाले लोगो के कारण ऐसे धर्म स्थानो का भी वातावरण दूषित हो जाता है और कभी-कभी तो किसी एक के कुछ कहने पर दूसरा कुछ तथा तीसरा कुछ कहता है और होते-होते वह धर्म स्थान कलहस्थान बन जाता है ।

तात्पर्य यह है कि सामायिक विषयक श्रेष्ठतम आदर्श और सरल साहित्य के अभाव के कारण तथा सामायिक मे की जाती हुई विकृतियों को देख कर वर्तमान युवको की रुचि और श्रद्धा सामायिक के प्रति कम देखी जाती है। इस बात को दृष्टि में रख कर ही सामायिक विषयक यह साहित्य जनता के सामने रखा जाता है।



सामायिक व्रत

सामायिक व्रत, श्रावक के बारह व्रतो मे से नववा और श्रावक के चार शिक्षाव्रतो मे से पहला है। यह व्रत पांच मूल और तीन गुण ऐसे आठ व्रतो को विशुद्ध रखने एव आत्मज्योति प्रकटाने की शिक्षा प्रदान करता है। इसीलिए इस व्रत की गणना चार शिक्षाव्रतो मे की गई है। आत्मा मे प्रदीप्त विपय-कपाय की आग को शात करके आत्मा को पवित्र वनाने एव वन्धन-रहित करने के लिये सामायिक व्रत मुख्य साधन है। इस व्रत के आचरण से आत्मा मे परम शाति प्राप्त होती है। इसलिए सांसारिक उपाधियो से समय बचाकर इस व्रत के आचरण मे जितना भी अधिक समय लगाया जा सके, उतना ही अच्छा है।

अव देखना यह है कि सामायिक किसे कहते है? सामायिक किस उद्देश्य से की जाती है? सामायिक करने से लाभ क्या होता है और सामायिक किस तरह करनी चाहिए जिससे उस सामायिक का दूसरो पर प्रभाव पडे और अपने ध्येय के समीप पहुंचने मे सिद्धि प्राप्त हो। इन चार विपयो मे से प्रथम सामायिक किसे कहते हैं, यह वताने के लिये टीकाकार कहते हैं—

समो रागद्वेपवियुक्तो यः सर्वभूतान्यात्मवत्-पश्यति,

तस्य आयो । लाभ प्राप्तिरिति पर्याया: ।। अन्यच्च समस्य आय. समाय, समो हि । प्रतिक्षणमपूर्वैर्ज्ञानदर्शनचरण—पर्यायैर्भवाटवीभ्रमणसकल्पविच्छेदकै — निरुपमसुखहेतुभिरय· कृतचिन्तामणि—कामधेनुकल्पद्रूमोपमैर्युज्यत स एव समाय: प्रयोजनमस्य क्रियानुष्टानस्येति मूलगुणानामाधारभूत सर्व-सावद्यविरतिरूप-चारित्रम् सामायिक, समाय एव सामायिकम् ।

अर्थात्—रागद्वेष रहित होकर सब जीवो को आत्म-तुल्य मानने को 'सम' कहते हैं । इस समभाव के आय (समभाव के लाभ) को 'समाय' कहते हैं । इस अर्थ को स्पष्ट करने के लिये विशेष रूप से यह कहते हैं कि प्रतिक्षण अपूर्व ज्ञान, दर्शन, चारित्र की पर्याय से जो भव-रूपी अटवी मे भ्रमण करने के सकल्प को विच्छेद करके उस निरुपम परम सुख का कारण है, जिस परम सुख के लिये कोई उपमा ही नही है तथा ससार मे सुख के उत्कृष्ट साधन माने जाने वाले चिन्तामणि कामधेनु और कल्प वृक्ष को भी जो परम तुच्छ बना देता है, उसको 'सम' कहते है । ऐसे समत्व का आय (समत्व का लाभ) 'समाय' कहलाता है । इस समाय मे जिस क्रिया के द्वारा प्रवृत्ति की जाती हैं, उसी क्रिया को सामायिक कहते हैं ।

टीकाकार के इस कथन से स्पष्ट है कि सामायिक शब्द 'सम' और 'आय' इन दो शब्दो के सयोग से 'क' प्रत्यय लगकर बना है । सम्+आय=समाय का मतलब है समभाव की प्राप्ति । इस प्रकार जिस क्रिया के द्वारा सम-भाव की प्राप्ति होती है और राग-द्वेष कम पड़ता है, विषय-कषाय की आग शांत होकर चित्त स्थिर होता है तथा

सासारिक प्रपचो की ओर आकर्पित न होकर आत्मभाव में रमण किया जाता है, उस क्रिया को शास्त्रकार 'सामायिक' कहते हैं ।

वस्त्र उतार कर और आसन बिछा कर बैठ जाना और मुखवस्त्रिका मुख पर बाध रजोहरण, पूंजनी, माला आदि धारण कर लेना, सामायिक के अनुरूप साधन अवश्य है, लेकिन इन साधनो को लेकर बैठ जाना ही सामायिक नही है । सामायिक तो तब है, जब उक्त साधनो से युक्त होकर त्याज्य कार्यों को त्याग दिया जावे और चित्त को शात तथा एकाग्र करके प्रशस्त विचार किया जावे । यानी आत्मा-अनात्मा अथवा जीव और पुद्गल के स्वरूप का विचार किया जावे, या पदस्थ पिडस्थ आदि चार प्रकार के ध्यान मे आत्मा को लगा दिया जावे । पदस्थ पिडस्थ आदि ध्यान आत्मा का सच्चा स्वरूप प्रकट करते हैं और आत्मा को समभाव मे स्थापित करते हैं । इसलिये सामायिक मे किये जाने वाले चारो प्रकार के ध्यानो का रूप, एक कवि के कथनानुसार सक्षेप मे बताया जाता है—

अक्षर पद को अर्थ रूप ले ध्यान में,
जे ध्यावे इम मन्त्र रूप इक तान मे ।
ध्यान पदस्थ जु नाम कह्यो मुनिराज ने,
जे यामे ह्वै लीन लहे निज काज ने ।।

अर्थात्—पंच परमेष्ठी मन्त्र के पैंतीस अक्षरो का भिन्न-भिन्न रूप मे विकल्प कर उनका ध्यान करना और पच-परमेष्ठी मन्त्र के पाचो पदो का भिन्न-भिन्न अर्थ विचार कर उस अर्थ मे लौ लगाना, अथवा पच-परमेष्ठी मन्त्र के

स्वर व्यंजन का वर्गीकरण करके अपने नाभि-मण्डल मे मन्त्र के पदो से कमल का रूप कल्पना, एक पद को मध्य मे रखकर शेष चार पदो को चारो दिशा मे रख कर उस कमल मे आत्मा को स्थित करना इत्यादि पदस्थ ध्यान है।

या पिण्डस्थ ध्यान के माहि, देह विषे स्थित आतम ताहि।
चिन्ते पंच धारणा धारि, निज आधीन चित्त को पारि ॥

अर्थात् - इस देह मे रहे हुए अखण्ड अविनाशी शाश्वत अमूर्त्त और सिद्ध स्वरूप आत्मा का पृथ्वी, अग्नि, वायु, जल और तत्त्वरूपवती इन पाच तत्त्वो की कल्पना द्वारा ध्यान करना, पिंडस्थ ध्यान है। पाच तत्त्वो की कल्पना मे किस-किस प्रकार कल्पना की जाती है, यह सक्षेप मे नीचे बताया जाता है।

पृथ्वी की कल्पना करने मे द्वीप समुद्र आदि का ध्यान करता हुआ स्वय भूरमण समुद्र का ध्यान करके अपने को स्वय भूरमण समुद्र जैसा शात तथा गम्भीर बनाकर, उस समुद्र मे रहे हुए कमल का ध्यान करे और उस कमल के मध्य की कर्णिका पर आत्मा को स्थित करे।

अग्नि की कल्पना करने मे यह माने कि पृथ्वी तत्त्व विषयक कमल की कणिका पर स्थित आत्मा, कर्म-मल को पवित्र भावना रूपी अग्नि से भस्म करने मे समर्थ है।

वायु की कल्पना करने मे यह माने कि पवित्र भावना रूपी अग्नि द्वारा जलाए गए कर्म-मल की भस्मराशि

उड जाने पर आत्मा निर्मल और शुद्ध होता है।

जल के विपय मे जिस पर को भस्मराशि उड गई है, उस आत्म-तत्त्व को निर्मल रखने के लिये जलधार की कल्पना करे और उस जलधार से आत्मा पर लगे हुए भस्मकरण धोकर आत्मा को शुद्ध करे।

तत्त्व रूपवती की कल्पना मे, निर्मल तथा ज्योतिर्मय आत्मा के स्वरूप का दर्शन करे।

यह पिण्डस्थ ध्यान की वात हुई। आगे रूपस्थ ध्यान के विपय मे कवि कहता है—

सर्व विभवयुत जान, जे ध्यावे अरिहन्त को।
मन वसि करि सनि मान, ते पावे तिस भाव को॥

अर्थात्- ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय के धारक, अष्ट महा प्रातिहार्य, चौंतीस अतिशय और वाणी के पैंतीस गुण-युक्त, इन्द्र तथा देवो के पूजनीय, ज्ञानवरणीय आदि घाती कर्म के नाशक, अनन्त केवलज्ञान रूप लक्ष्मी से युक्त अरिहन्त भगवान् के स्वरूप का ध्यान करके यह माना कि मेरी भी आत्मा ऐसी ही है। अन्तर केवल यही है कि अरिहन्त भगवान् ने आत्मा रूपी सूर्य का प्रकाश रोकने वाले कर्म रूपो आवरण को नष्ट कर दिया है, लेकिन मेरी आत्मा कर्ममल से आच्छादित है। उस कर्म-मल को हटा देने पर इस परमात्म-स्वरूप मे और मेरे मे कोई अन्तर नही है। इस प्रकार की भावना करते हुए, जीवनमुक्त-अजन्मा और नष्ट-पाप परमात्मा से तन्मयता साधना रूपस्थ ध्यान है।

इति विगतविकल्पं क्षीणरागादिदोषं ।
विदितसकलवेद्य त्यक्तविश्वप्रपञ्चम् ।।
शिवमजमनवद्यं विश्वलोकैकनाथम् ।
परमपुरुषमुच्चैर्भावशुद्धया भजस्व ।।

अर्थात्—जिनके समस्त विकल्प मिट गए है, रागादि दोप क्षीण हो चुके हैं, जो समस्त पदार्थों को जानते हैं, जिनने जन्म–मरण का प्रवाह नष्ट कर दिया है, जो पाप-रहित हो गये है, जो समस्त लोक के नाथ होकर लोकाग्र पर स्थित हैं, उन रूपातीत सिद्ध भगवान् के स्वरूप का चिन्तन करके अपने को उसमे लीन कर दे, उनके स्वरूप से आत्मा की तुलना करता हुआ सत्ता की अपेक्षा से आत्मा को भी उनके समान जान कर आत्मा का वैसा ही रूप प्रकट करने के लिये उनके ध्यान मे तल्लीन हो जाना रूपातीत ध्यान है ।

ऊपर वताये गये ध्यानो मे रमण करने का नाम ही सामायिक है । ऐमे ध्यान के द्वारा आत्मा समभाव को प्राप्त होता है ।



सामायिक का उद्देश्य

सामायिक क्यो करनी चाहिए ? सामायिक का उद्देश्य क्या है ? इसके लिए कहा गया है कि—

समभावो सामाइय, तणकचण सत्तु मित्तविउसउत्ति ।
णिरभिस्सग चित्त, उचिय पवित्ति पहाणाण ॥१॥

इस गाथा मे कहा है कि समभाव की प्राप्ति अर्थात् तृण और कचन, शत्रु और मित्र पर राग-द्वेष रहित बनकर समभाव का प्राप्त करना ही सामायिक का उद्देश्य है किन्तु इस तरह का समभाव पूर्णतया तो तभी प्राप्त होता है, जब रागद्वेष का सर्वथा नाश हो जावे और रागद्वेष का पूर्णतया नाश तब प्राप्त होता है, जब वीतराग दशा प्रकट हो । जब तक रागद्वेष सर्वथा नष्ट नही हो जाता, तब तक वीतराग दशा प्रकट नही हो सकती और जब तक वीतराग दशा प्रकट नही होती है, तब तक रागद्वेष का सर्वथा नाश भी नही होता है, न पूर्ण समभाव की प्राप्ति ही होती है । वीतराग दशा प्रकट करने का मार्ग, आत्मा को शुक्लध्यान मे लगा कर मोहकर्म की प्रकृतियो को उडाना और ग्यारहवे या बारहवें आदि गुणस्थान पर पहुंचाना है ।

यह प्रश्न होता है कि जब तक इस स्थिति पर न पहुचा जाय, तब तक क्या करना चाहिए ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिये जैन सिद्धात कहता है कि पूर्ण

समभाव तो वीतराग दशा प्रकट होने पर ही होगा, अतः वीतरागावस्था को ध्येय बनाकर, वह अवस्था प्राप्त करने के लिए क्रिया करते ही रहना चाहिए। क्रिया न करके केवल यह कह कर वैठ रहने से कि 'ज्ञानी महाराज ने ज्ञान मे जैसा देखा होगा वैसा होगा, अथवा जब हमारी कषाय मन्द होकर चित्त शात होगा तब करेंगे। कोई भी व्यक्ति उस अवस्था को प्राप्त नही कर सकता। इस तरह के कथन का अर्थ तो यही हुआ कि हमारे किये कुछ भी नही होता है। लेकिन ऐसा मान वैठना जैन सिद्धांत को न समझना है। जिन लोगो को जैन सिद्धात का थोडा भी अभ्यास है, वे तो यही मानेगे कि हमे क्रिया अवश्य ही करनी चाहिए। यद्यपि होता तो वही है, जो अतिशय ज्ञानियो ने अपने ज्ञान मे देखा है, लेकिन उन ज्ञानियो ने अपने ज्ञान मे किन भावो को देखा है, इस बात का पता अल्पज्ञो को नही हो सकता। इसलिए अल्पज्ञो के लिये तो यही सिद्धात मानना ठीक है कि जैसा हम करेगे, वैसा ही होगा। शास्त्र में भी कहा है—

अप्पा कत्ता विकत्ता य दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्त च दुप्पट्ठिओ सुपट्ठिओ॥

(श्री उत्तराध्ययन सूत्र)

अर्थात् सन्मार्ग और कुमार्ग पर लगा हुआ अपना आत्मा ही सुख और दुःख का कर्त्ता है, अपना आत्मा ही अपना मित्र और अमित्र (शत्रु) है।

इस प्रकार आत्मा ही कर्त्ता तथा भोक्ता है। आत्मा

जैसा करता है, वैसा ही फल भोगता है। इसके लिये कहा है-

सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला भवन्ति।
दुच्चिण्णा कम्मा दुच्चिण्णा फला भवन्ति ॥

अर्थात् आत्मा जैसा शुभ या अशुभ कर्म करता है, वैसा ही शुभ या अशुभ फल भी भोगता है।

किये हुए शुभाशुभ कर्म का फल भोगने मे तो आत्मा का वश चलता भी है और नही भी चलता है, लेकिन कर्म करने मे तो आत्मा स्वतन्त्र है। ऐसा होते हुए भी कई लोग कर्म या भाग्य की ओट ले लेते है, लेकिन ऐसा करना केवल अपनी कायरता को ढांकने का प्रयत्न करना है। यदि आत्मा चाहे तो वह सव कुछ करने मे समर्थ है तथा असाध्य को भी साध्य वना सकता है। इसलिए यही उचित है कि आत्मा को सावधान रख कर क्रिया की जावे। क्रिया करने का कोई ध्येय तो अवश्य ही होना चाहिए। आत्मकल्याण के लिये समभाव की प्राप्ति को ध्येय वना कर क्रिया करना ही श्रेष्ठ है। समभाव प्राप्त करने के लिये अभ्यास रूप जो क्रिया की जाती है,उस क्रिया का नाम ही सामायिक है। सामायिक का स्वरूप बताने के लिये कहा गया है कि—

सावद्यकर्ममुक्तस्य, दुर्ध्यानरहितस्य च।
समभावो मुहूर्त्तं तद्, व्रत सामायिकाह्वयम् ॥

अर्थात्—सावद्य (पाप सहित) कर्म से मुक्त होकर, आत्मा को पतित करने वाले आर्त्त रौद्र ध्यान को दूर करके,

आत्मा को पवित्र बना कर मुहूर्त्त मात्र के लिये समभाव धारण करना ही सामायिक व्रत है।

सामायिक ग्रहण करने के पाठ से भी सामायिक की यही व्याख्या ध्वनित होती है। सामायिक ग्रहण करने के पाठ मे भी यह प्रतिज्ञा की जाती है कि—

करेमि भंते सामाइयं सावज्जं जोगं पच्चक्खामि जाव नियम पज्जुवासामि, दुविहं तिविहेण न करेमि न कारवेमि मणसा वयसा कायसा, तस्स भंते! पडिक्कमामि निन्दामि गरिहामि अप्पाण वोसिरामि।

अर्थात्—(सामायिक ग्रहण करने वाला कहता है) हे भगवन्! मैं सामायिक व्रत ग्रहण करता हूँ और जितने समय के लिए मैं नियम करता हूँ, उतने समय के लिए सावद्य व्यापार (कार्य) का दो करण, तीन योग से त्याग करता हूँ। यानी मन-वचन काय के योग से न तो मैं स्वयं ही सावद्य कार्य करूंगा, न दूसरे से ही कराऊंगा। इतना ही नही, किन्तु सामायिक ग्रहण करने से पहले मैंने जो सावद्य अनुष्ठान किये हैं, उन सबकी वचन से निन्दा करता हूँ, मन से घृणा करता हूँ और उन कषायादि दुष्प्रवृत्तियो से अपनी आत्मा को हटाता हूँ।

इस प्रकार सामायिक करने के लिए वे समस्त कार्य त्यागे जाते हैं, जो सावद्य (पापयुक्त) है, जिनके करने से पाप का वन्ध होता है और आत्मा मे पापकर्म का स्रोत आता है।

शास्त्रकारो ने पाप की व्याख्या करते हुए अठारह कार्यों मे पाप बताया है। उन अठारह मे से किसी भी कार्य को

करने पर कर्म का वन्ध होकर आत्मा भारी होता है और जो आत्मा कर्म के वोझ से भारी है, वह समभाव को प्राप्त नही कर सकता। जिन कार्यों से कर्म का वन्ध होकर आत्मा भारी होता है, थोड़े मे उन पाप कार्यों का भी वर्णन किया जाता है।

१ प्राणातिपात यानी जीवहिसा—इस सम्वन्ध मे प्रश्न होता है कि जीव तो शाश्वत है। जीव का अजीव न तो कभी हुआ है, न होता ही है और न होगा ही। फिर हिंसा किसकी होती है और पाप क्यो लगता है? इस प्रश्न का समाधान यह है कि जीव का नाश तो कभी नही होता, परन्तु जीव ने अपना जीवत्व व्यक्त करने के लिए जो सामग्री एकत्रित की है, और जीव की जिस सामग्री को प्राण कहा जाता है, उस सामग्री को नष्ट करना या धक्का पहुचाना-यानी प्राण नष्ट करना या प्राण को आघात पहुचाना ही हिंसा है। इसके लिए कहा भी है कि—

'प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपण हिंसा।

इसका भावार्थ यह है कि ऐसा विचार करना, ऐसी भाषा वोलना या ऐसा कार्य करना कि जिससे किसी भी प्राणी के प्राणो को आघात पहुचे वह हिंसा है और हिंसा ही 'प्राणातिपात' पाप है।

२. मृषावाद—जो वात जैसी है या जो पदार्थ जैसा है उसको वैसा न कह कर विपरीत कहना, वताना और वास्तविकता को छिपाना 'मृषावाद' है। ऐसा करने से कई

प्रकार के अनर्थ होते है, इसलिए यह भी पाप है ।

३. अदत्तादान—जो पदार्थ अपना नही किन्तु दूसरे का है, वह सचित्त अचित्त या मिश्र पदार्थ कुछ भी हो, उस पदार्थ को मालिक से छिपा कर गुप्त रीति से गहण करना चोरी है । अथवा दूसरे के अधिकार की वस्तु पर जवरदस्ती अपना अधिकार जमा लेना भी चोरी है क्योकि इससे उसकी आत्मा दु:ख पाती है । इस तरह की चोरी 'अदत्तादान' नाम का पाप है ।

४. मैथुन—मोह दशा से विकल होकर स्त्री आदि मोहक पदार्थ पर आसक्त हो स्त्री-पुरुष का परस्पर वेद-जन्य चेष्टा करना (विकार मे प्रवृत्त होना) मैथुन है । 'मैथुन' मे फसे हुए लोग अकृत्य भी कर डालते हैं और आत्म-भाव को भूल जाते है । इसलिए 'मैथुन' भी पाप है ।

५ परिग्रह—किसी भी सचित्त अचित्त अथवा मिश्र पदार्थ के प्रति ममत्व रखना, उन्हे प्राप्त करने का प्रयत्न करना, प्राप्त पदार्थ का संग्रह करना, उन्हे अपने अधिकार मे रखने की चेष्टा करना और उसके प्रति आसक्त रहना 'परिग्रह' है । परिग्रह के लिए अनेक अनर्थ किये जाते हैं । इसलिए यह भी पाप है ।

६ क्रोध---किसी निमित्त के कारण अथवा अकारण अपने या दूसरे के आत्मा को तप्त करना 'क्रोध' है । जव क्रोध होता है तव अज्ञानवश हिताहित नही सूझता है लेकिन क्रोधावेश मे किये गये कार्य के लिए फिर पश्चात्ताप होता

है। क्रोध, कलह का मूल है इसलिए 'क्रोध' भी पाप है।

७. मान—दूसरे को तुच्छ और अपने आपको महान् मानना 'मान' है। मानी व्यक्ति ऐसे ऐसे शब्दो का प्रयोग कर डालता है जिन्हे सुनकर दूसरे को बहुत दुख होता है और दूसरे के हृदय मे प्रति-हिंसा की भावना जागृत होती है। इसलिए 'मान' भी पाप है।

८. माया—अपने स्वार्थ के लिए दूसरे को ठगने और धोखा देने की जो चेष्टा की जाती है, उसे 'माया' कहते हैं। माया के कारण दूसरे प्राणी को कष्ट मे पडना पडता है, इसलिए 'माया' भी पाप है।

९ लोभ—हृदय मे किसी चीज की अत्यधिक चाह रखने का नाम 'लोभ' है। लोभ ऐसा दुर्गुण है कि जिसके कारण सभी पापो का आचरण किया जा सकता है। दशवैकालिक सूत्र मे कहा है कि क्रोध, मान और माया से तो एक एक सद्गुण का ही नाश होता है, लेकिन लोभ सभी सद्गुणो को नष्ट करता है। इसी कारण 'लोभ' की गणना पाप मे की गई है।

१०. राग—किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति रूप प्रेम होने का नाम 'राग' है अथवा सुख की अनुसगति को भी 'राग' कहते हैं। वास्तव मे कोई भी वस्तु अपनी नही है परन्तु जब उस वस्तु को अपनी मान लिया जाता है, तब उसके प्रति राग होता है और जहा राग है वहा सभी अनर्थ सम्भव है। इसलिए 'राग को भी पाप मे माना गया है।

११. द्वेष—अपनी प्रकृति के प्रतिकूल बात सुनकर

या कार्य अथवा पदार्थ देख कर जल उठना, उस बात, कार्य या पदार्थ को न चाहना और उस बात कार्य या पदार्थ को नि शेष करने की भावना अथवा प्रवृत्ति करना द्वेष है। 'द्वेष' की गणना भी पाप में है।

१२. कलह--किसी भी अप्रशस्त सयोग के मिलने से मन मे कुढकर वाग्युद्ध करना 'कलह' है। कलह से अपनी आत्मा को भी परिताप होता है और दूसरे को भी। इस-लिए 'कलह' भी पाप है।

१३. अभ्याख्यान—किसी भी मनुष्य पर कोई बहाना पाकर दोषारोपण करना, कलङ्क चढ़ाना 'अभ्याख्यान' है, जो पाप है।

१४. पैशुन्य—किसी मनुष्य के सम्बन्ध में चुगली खाना, इधर की बात उधर लगाना 'पैशुन्य' है। 'पैशुन्य' की गणना भी पाप मे है।

१५ परपरिवाद--किसी की बढती न देख सकने के कारण उस पर सच्चा-झूठा दूषण लगा कर उसकी निन्दा करना 'परपरिवाद' है। यह भी पाप है।

१६. रति-अरति--निज स्वरूप को भूल कर परभाव मे पड़ा हुआ, पुद्गलों मे आनन्द मानने वाला व्यक्ति अनुकूल वस्तु की प्राप्ति से आनन्द और प्रतिकूल वस्तु की प्राप्ति से दुःख मानता है। यह 'रति-अरति' है, जो पाप है।

१७—मायामृषावाद--कपट सहित झूठ बोलना, यानी इस तरह चालाकी से बोलना या ऐसा व्यवहार करना कि प्रकट मे सत्य दीखे परन्तु वास्तव मे झूठ है और जिसको

दूसरा व्यक्ति सत्य तथा सरल मान कर नाराज न हो 'मायामृषा' है । आजकल जिसे पॉलिसी कहते हैं, वह पॉलिसी शास्त्र के शब्दों मे मायामृषा है, जो पाप है ।

१८ मिथ्यादर्शनशल्य – तत्त्व मे अतत्त्व-बुद्धि और अतत्त्व मे तत्त्व-बुद्धि रखना, देव को कुदेव और कुदेव को देव, गुरु को कुगुरु और कुगुरु को गुरु, धर्म को अधर्म और अधर्म को धर्म मानना या ऐसी बुद्धि रखना 'मिथ्यादर्शन-शल्य' रूप विपरीत मान्यता का पाप है ।

ये अठारहो पाप स्थूल रूप हैं । सूक्ष्म रूप तो बहुत गहन हैं । सामायिक ग्रहण करने के समय इन अठारहो पापो का त्याग किया जाता है ।

सामायिक दो तरह की होती है एक देशसामायिक दूसरी सर्वसामायिक । देशसामायिक ग्रहण करने वाला श्रावक अपने आवकाशानुसार समय के लिए उसी पाठ से सामायिक ग्रहण करता है जो पाठ ऊपर कहा गया है । सर्वसामाथिक केवल वे ही लोग ग्रहण करते हैं या कर सकते है, जिन्हे सासारिक विपयो से घृणा हो गई है, चक्रवर्ती को प्राप्त होने वाले सुख के साधन तथा भोग्य पदार्थ भी जिन्हे नही ललचा सकते हैं, दुख के पहाड भी जिन्हे क्षुब्ध नही कर सकते हैं और जो पौद्गलिक पदार्थ से सर्वथा निर्मम हो गए है । यद्यपि इस विषय मे भी चार भंग हैं । कई लोग सर्वसामायिक ग्रहण करने के समय इस स्थिति पर पहुचे हुए भी नही होते हैं, किन्तु दुख अथवा किसी प्रलोभन के कारण उत्पन्न वैराग्य से सर्व विरति

सामायिक स्वीकार कर लेते हैं और फिर ज्ञान होने पर उक्त स्थिति पर पहुंच जाते हैं। इसलिए यही कहा जा सकता है कि सर्व-सामायिक वे ही लोग ग्रहण करने के योग्य है जिनमे उक्त योग्यता विद्यमान हो या होने की सम्भावना हो। सर्व-सामायिक वही ग्रहण करता है और सर्व-सामायिक ग्रहण करने का पाठ भी वही पढता है जो गृहस्थावस्था त्याग कर दीक्षा ग्रहण करता हो। सर्व सामायिक ग्रहण करने वाला अठारह पापों का यावज्जीवन के लिए त्याग करता है और देश-सामायिक ग्रहण करने वाला व्यक्ति अपनी सुविधानुसार एक, दो, चार, पांच या अधिक मुहूर्त के लिए। यह भेद काल की अपेक्षा से हुआ। भाव की अपेक्षा सर्व-सामायिक ग्रहण करने वाला व्यक्ति अठारह पापो का तीन योग से त्याग करता है और देश सामायिक ग्रहण करने वाला दो करण, तीन योग से त्याग करता है। गृहस्थ श्रावक गृहस्थावस्था से पृथक् नही हो गया है, इस कारण उससे अनुमोदन का पाप नही छूट सकता। इसलिए वह दो करण और तीन योग से ही पाप का त्याग करता है। यानि यह प्रतिज्ञा करता है कि इतने समय के लिए मैं मन वचन और काय द्वारा न तो कोई पाप करूंगा ही और न कराऊंगा ही। इसके विरुद्ध सर्व-सामायिक स्वीकार करने वाला सामायिक ग्रहण करने के समय यह प्रतिज्ञा करता है कि मैं जीवन भर मन, वचन, काय द्वारा न तो कोई पाप करूंगा, न कराऊंगा और न किसी पाप का अनुमोदन ही करूंगा यानि सर्व-सामायिक स्वीकार करने वाला व्यक्ति पाप के अनुमोदन का भी त्याग करता है।

दोनो प्रकार की सामायिक का उद्देश्य तो यही है

कि जो आत्मा अनादिकाल से विषय-कषाय मे फंस कर पापपूर्ण कार्य करने के कारण कर्मों के लेप से भारी हो रहा है, उसको इन कार्यों के त्याग और समभाव की प्राप्ति द्वारा हल्का किया जावे। देश या सर्व सामायिकपूर्ण समभाव प्राप्त करने का अनुष्ठान है। लेकिन अनुष्ठान तभी सफल होता है, जब वह विधिपूर्वक किया जावे और आत्मा एकाग्र होकर उस अनुष्ठान को करे। अनुष्ठान तब तक सिद्ध नही हो सकता, जब तक चित्त मे एकाग्रता न हो और चित्त तभी एकाग्र हो सकता है, जब उसको स्थिर किया जावे तथा इन्द्रियो मे चचलता न रहे। इसलिए सामायिक करने वाले मुमुक्षु को इस बात की सावधानी रखनी चाहिए और यह पता लगाते रहना चाहिए कि मेरे मन की चचलता मिटी है या नही और इन्द्रिया विषयलोलुप होकर विषयो की ओर दौडती तो नही है! सामायिक मन और इन्द्रियो की चचलता मिटाने का अभ्यास है। अत सामायिक की शुद्धता और सफलता तभी समझनी चाहिए, जब इन्द्रिया विषयो की ओर आकर्षित न हो और मन इधर-उधर न दौड़े। चाहे जैसे सुहावने शब्द या गान-वाद्य हो अथवा चाहे जैसे कठोर एव कर्कश शब्द हो, उनको सुनकर कान न तो हर्षित हो और न व्याकुल ही हो। सामने चाहे जैसा सुन्दर या भयकर रूप आवे, आखे उस रूप को देख कर न तो प्रसन्नता माने न व्यथित या भयभीत हो। इसी प्रकार जब पांचो इन्द्रिया अनुकूल विषय की ओर आकर्षित न हो, प्रतिकूल विषय से घृणा न करे, तथा मन मे भी ऐसे समय पर रागद्वेष न आवे किन्तु समतोल रहे, तब समझना कि हमारी सामायिक शुद्ध है एव हमारी साधना सफलता की ओर बढ़ रही है। यदि इसके विरुद्ध प्रवृत्ति हो तो उस

दशा में साधना–अनुष्ठान का सफल होना कठिन है । इस लिए सामायिक करने वाले को इन्द्रियों और मन की चचलता मिटाने तथा प्रत्येक दशा मे समाधिभाव रखने का प्रयत्न करना चाहिए और इसी बात को अपना लक्ष्य बना कर इस लक्ष्य की ओर अधिक से अधिक बढते जाना चाहिए । ऐसा करने पर सामायिक-क्रिया के द्वारा कभी पूर्ण समभाव भी प्राप्त किया जा सकता है और आत्मा पूर्णता को पहुच सकता है । जब आत्मा मे पूर्ण समभाव होगा तब आत्मा जीवन-मुक्त होकर परमात्मा बन जायेगा ।

इन्द्रियों और मन की चंचलता एकदम से नही मिट सकती । इसके लिए अभ्यास की आवश्यकता है । जब इन्द्रिया अपने विषयो की ओर आकर्षित हो और अपने साथ मन को भी उस ओर घसीटने लगे, तब इन्द्रियो को रोकने के लिए ज्ञान–ध्यान आदि शुभ एव प्रशस्त क्रिया का अवलम्बन लेना चाहिए । ऐसा करने पर इन्द्रिया विषयो की ओर जाने से रुक जायेगी और मन भी रुक जायेगा । छद्मस्थ जीवों के मन वचन के योग का निरोध स्थायी रूप से नही हो सकता । श्री प्रज्ञापनादि सूत्रो से भगवान् महावीर ने मन-वचन के योग की स्थिति जघन्य एक समय और उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त्त की बताई है । छद्मस्थ जीवो के मन और वाणी के परमाणु अन्तर्मुहूर्त्त से अधिक समय तक एक स्थिति में नही रह सकते । वे तो पलटते ही रहते हैं । गीता मे भी मन की दुर्दमता के विषय मे कहा है—

चचल हि मन कृष्ण ! प्रमाथि बलवद् दृढम् ।
तस्याह निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ।।

अर्थात्—हे कृष्ण ! मन बड़ा ही चचल, प्रमथन स्वभाव वाला एवं दृढ़ है। इसलिए उसे वश मे करना वैसा ही दुष्कर जान पड़ता है, जैसा दुष्कर वायु को वश में करना है।

अर्जुन के इस कथन के उत्तर मे कृष्ण ने कहा—

असंशय महावाहो ! मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय ! वैराग्येण च गृह्यते ॥

अर्थात्—हे महावाहु ! नि.सन्देह मन चचल और दुर्निग्रह है परन्तु हे कौन्तेय ! अभ्यास और वैराग्य से उस को भी वश मे किया जा सकता है।

सामायिक करना मन को वश मे करने का अभ्यास है। इसलिए समभाव प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले को चाहिए कि वह मन को ऐसे प्रशस्त कामों मे लगावे कि जिससे वह इन्द्रियो के साथ विपयो की ओर न दौड़े और न इन्द्रिया ही विपय-लोलुप हो। इसके लिए सामायिक ग्रहण किए हुए व्यक्ति को निकम्मा न वैठना चाहिए, न सासारिक प्रपच की वातो मे ही लगना चाहिए। निकम्मा वैठना, इधर-उधर की सासारिक प्रपचपूर्ण अथवा विपय-विकार से भरी हुई और ऐसी वात करना जिनसे अपने या दूसरे के हृदय मे रागद्वेप वढे, सामायिक का उद्देश्य भूलना है और जव उद्देश्य ही विस्मृत कर दिया जायेगा तव क्रिया सफल कैसे हो सकती है ? इसलिए सामायिक के समय ऐसे सव कार्य त्याग कर सूत्र सिद्धान्त का अध्ययन-मनन करना चाहिए, तत्त्वो का विचार करना चाहिए अथवा जिनका ध्यान-स्मरण

करने से परमपद की प्राप्ति हो सकती है, उन आप्त महा-पुरुषों की भक्ति और उन महापुरुषो के गुणानुवाद मे मन लगा देना चाहिए। ऐसा करने पर आत्मा समभाव के समीप पहुचेगा।

मन को स्थिर करने के लिए शास्त्रकारो ने पाच प्रशस्त साधन बताये हैं। वे पाच साधन इस प्रकार हैं—वाचना, पूछना, पर्यटना, अनुप्रेक्षा और धर्म-कथा। इन पाचो का रूप थोड़े मे बताया जाता है।

१—वाचना से मतलब है प्रशस्त साहित्य का पढ़ना। प्रशस्त साहित्य वही है जो सर्वज्ञ एव सर्वदर्शी अर्हन्त भगवान् का कहा हुआ प्रवचन हो और जिसे सर्व अक्षर सन्निपाती गणधरो ने सूत्र रूप मे गूथा हो। ऐसे ही साहित्य के आधार से निर्मित ग्रन्थो की गणना भी प्रशस्त साहित्य मे है।

इस व्याख्या के अनुसार यह प्रश्न होता है कि क्या ऐसे साहित्य के सिवा शेष साहित्य प्रशस्त नही है? इस प्रश्न के उत्तर मे यही कहा जावेगा कि जिसकी दृष्टि सम है, जिसको सच्चे तत्त्व का बोध है उसके लिए सभी साहित्य प्रशस्त हो सकता है, ऐसा नन्दीसूत्र मे कहा है। समदृष्टि और सच्चे तत्त्व को जानने वाला व्यक्ति जिस साहित्य को भी देखेगा, उस साहित्य मे से तत्त्व निकाल कर उस तत्त्व का सम्यक् परिणमन ही करेगा। लेकिन ऐसी शक्ति आप्त वाक्य ही प्रदान करते हैं, इसीलिए जिसे आप्त वचन का बोध है, वही व्यक्ति दूसरे साहित्य से लाभ

उठा सकता है । जिसको आप्त वचन का बोध नही है, वह व्यक्ति यदि दूसरा साहित्य देखेगा तो लाभ के बदले हानि ही उठायेगा ।

२—मन को स्थिर करने का दूसरा साधन 'पूछना' है । आप्त-साहित्य के वाचन से हृदय मे तर्क-वितर्क का उत्पन्न होना स्वाभाविक है । क्योकि आप्त वाक्य अनन्त आशय वाले हैं, छद्मस्थ व्यक्ति उन्हे पूरी तरह नही समझ सकता । इसलिए हृदय मे उत्पन्न तर्क-वितर्क के विषय में विशेष ज्ञानी से पूछ-ताछ करके समाधान किया जाता है ।

३—तीसरा साधन 'पर्यटना' है । जो जानकारी प्राप्त की है जो ज्ञान मिला है, उसे हृदयंगम करने के लिए उस ज्ञान का वार-वार चिंतन करना, पर्यटना है । जब तक ज्ञानावरणीय कर्म का आवरण नही हटता है, तब तक प्राप्त ज्ञान भी नही टिकता । इसलिए प्राप्त ज्ञान का पुन पुनः आवर्त्तन अथवा पारायण करते रहना चाहिए । सामायिक मे पर्यटना करने से चित्त स्थिर रहता है और आत्मा पर-भाव मे नही जाता है ।

४—चौथा साधन प्राप्त ज्ञान के बाह्य रूप से ही सन्तुष्ट न होकर उसके भीतरी तत्त्व की खोज करना 'अनुप्रेक्षा' है । यानि प्राप्त ज्ञान से मुझे क्या बोध लेना चाहिए, इस बात को दृष्टि मे रख कर प्राप्त ज्ञान के अन्तस्तल तक पहुंचने का प्रयत्न करना और अनुभव बढाना अनुप्रेक्षा है । बाह्य ज्ञान की अपेक्षा अनुभूत ज्ञान महा निर्जरा और सम-भाव को समीप करने वाला है । कहा है—

मन वच तन थिरते हुए, जो सुख अनुभव मांय ।
इन्द्र नरेन्द्र फरोन्द्र के, ता समान सुख नांय ।।
(शांति प्रकाश)

५—धर्मकथा—उक्त चारों साधनों द्वारा आत्मा जो अनुभव प्राप्त करती है, उस अनुभव का दूसरे को लाभ देना, लोगों को हिताहित का बोध करा कर धर्म के सम्मुख करना और पतित होने से बचाना धर्मकथा है ।

उक्त पांचों साधन इन्द्रिय और मन का निग्रह करके समाधि भाव मे प्रवर्त्ताने के लिए प्रशस्त हैं । सामायिक ग्रहण किये हुए व्यक्ति को इन्ही साधनो का सहारा लेना चाहिए, जिससे सामायिक ग्रहण करने का उद्देश्य, आत्मा को पूर्ण समाधि भाव मे स्थित करना सफल हो ।



सामायिक से लाभ

अब यह देखते हैं कि सामायिक करने से क्या लाभ होता है ? क्योंकि जब तक कार्य का फल ज्ञात नही होता, तब तक कार्य के प्रति रुचि नही होती और बिना रुचि का कार्य पूर्णता तक नही पहुंचता। इसलिए यह जानना आवश्यक है कि सामायिक करने से लाभ क्या होता है ?

सामायिक से क्या लाभ होता है, यह बताने के लिए श्री उत्तराध्ययन सूत्र के २९वे अध्ययन मे गुरु-शिष्य के संवाद रूप से प्रश्नोत्तर किया गया है कि—

प्रश्न—सामाइएण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर - सामाइएणं सावज्जजोगविरइ जणयइ।

इस प्रश्नोत्तर मे शिष्य प्रश्न करता है कि हे भगवन् ! सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है ? शिष्य के इस प्रश्न के उत्तर मे गुरु ने कहा कि सामायिक से जीव को सावद्य योग यानी पाप-प्रवृत्ति से दूर होने रूप महाफल की प्राप्ति होती है।

इस प्रश्नोत्तर मे गीतार्थ गुरु ने जो उत्तर दिया, उसे

उन महा प्रज्ञावान् शिष्य ने समझ लिया होगा, लेकिन साधारण लोगों की समझ मे तो उक्त उत्तर तभी आ सकता है, जब उसका कुछ विशेष स्पष्टीकरण किया जावे। गुरु ने सामायिक का फल बताते हुए न तो देव-भव सम्बन्धी सुख का प्राप्त होना कहा है, न लब्धि आदि किसी सिद्धि का ही मिलना बताया है, जिसे इसी लोक में प्रत्यक्ष किया जा सके। इसलिए इस उत्तर का स्पष्टीकरण होना और भी आवश्यक है।

कार्य का फल देखने के लिए पहले यह देखना चाहिए कि हमारा उद्देश्य क्या है ? हम सामायिक किस उद्देश्य से करते है ? आत्मा अनादिकाल से पौद्गलिक सुख से परिचित हो रहा है और इस कारण पौद्गलिक सुख के साधन ही एकत्रित करता है, वैसे ही वैसे उन साधनो के साथ लगी हुई चिन्ता से घिर कर अधिक दुःखी होता जाता है। सामायिक ऐसे दुःख से छूटने के लिए ही की जाती है। वास्तव में पौद्गलिक साधनों मे सुख होता तो छः खण्ड पृथ्वी के स्वामी चक्रवर्तियो को ऐसे साधनो की क्या कमी हो सकती है, जो वे ऐसे साधनो को त्याग कर निकले ? इससे यही स्पष्ट है कि पौद्गलिक साधनो में सुख नही है। इसलिए सामायिक इस प्रकार के साधन प्राप्त करने के लिए नही की जाती है किन्तु जिस प्रकार बन्धन से जकड़ा हुआ आत्मा, ज्ञान होने पर बन्धनमुक्त होने का प्रयत्न करता है, उसी प्रकार इस संसार की उपाधि से मुक्त होने के लिए ही सामायिक की जाती है। ऐसी दशा मे सामायिक के फल स्वरूप इहलौकिक या पारलौकिक सुख सम्पदा चाहना या सामायिक के फल के सम्बन्ध में ऐसी कल्पना करना भी

सर्वथा अनुपयुक्त है। किसी आदमी ने शारीरिक सुख के लिए बढिया-बढिया वस्त्र पहन रखें हो, लेकिन उन वस्त्रो के कारण गर्मी लगने लगे और घबराहट होने लगे तब शाति तभी हो सकती है, जब वे वस्त्र उतार कर अलग कर दिये जावे। इसके विरुद्ध यदि अधिक वस्त्र शरीर पर लाद लिए गये तो उस दशा मे गर्मी या घबराहट भी नही मिट सकती, न शान्ति ही हो सकती है। इसी के अनुसार जिन पौद्गलिक सयोगो के कारण आत्मा भारी हो रहा है, उन्ही सयोगो मे अधिक फसने पर आत्मा को शाति नही मिल सकती। शाति तो उनका त्याग करने पर ही मिल सकती है।

कहना यह है कि सामायिक का फल इहलौकिक या पारलौकिक नही है, किन्तु सामायिक का फल निर्जरा अथवा रागद्वेष रहित समभाव की प्राप्ति है। श्री दशवैकालिक सूत्र के नवे अध्ययन के चौथे उद्देशक मे यह स्पष्ट कहा गया है कि आत्मकल्याण के लिए किये जाने वाले अनुष्ठान इहलौकिक सुख, पारलौकिक ऋद्धि या कीर्त्ति श्लाघा, महिमा आदि के लिए नही, किन्तु केवल निर्जरा के लिए ही होने चाहिए। यही बात सामायिक के लिए भी है। आत्मा के लिए जो जो असमाधि के कारण है, उन सासारिक उपाधियो से छूटने के लिए ही सामायिक की जाती है। इसलिए सामायिक का फल ऐसी उपाधियो के कारण होने वाली पाप प्रवृत्ति का त्याग ही है। यह फल बहुत अश मे सामायिक ग्रहण करते ही प्रत्यक्ष हो जाता है। अर्थात् जिस समय सामायिक ग्रहण की जाती है, उसी समय आध्यात्मिक सुख मे बाधक प्रवृत्तियो से छुटकारा मिल जाता है और

समाधि का अनुभव होने लगता है। सासारिक उपाधियो का छूटना ही सम-भाव है और सम-भाव की प्राप्ति ही सामायिक का फल है ।

इस प्रकार सामायिक का फल तत्काल प्राप्त होता है । यदि सामायिक ग्रहण करते ही उक्त फल न मिला, समभाव न हुआ, आत्मा विषय-कषाय की आग से जलता ही रहा, पौद्गलिक सुखों की लालसा न मिटी तो समझना कि अभी न तो हम विधिपूर्वक सामायिक ही ग्रहण कर सके हैं. न हमे सामायिक का फल ही मिला है । जिस सामायिक का तात्कालिक फल प्राप्त नही हुआ है, उसका परम्परा पर प्राप्त होने वाला फल भी कैसे मिल सकता है ? शास्त्रकारो ने स्पष्ट ही कह दिया है कि इस आत्मा ने द्रव्य सामायिक बहुत की है और रजोहरण मुखवस्त्रिका आदि उपकरण भी इतने धारण किये तथा त्यागे हैं कि एकत्रित करने पर उनका ढेर पर्वत की तरह हो सकता है, फिर भी उन सामायिको या उपकरणो से आत्मा का कल्याण नही हुआ । इस असफलता का कारण सामायिक के तात्कालिक फल का न मिलना ही है । जिस सामायिक का तात्कालिक फल मिलता है, उसका परम्परा-फल भी मिलता है और जिसका तात्कालिक फल नही मिलता, उसका परम्परा से भी फल नही मिलता ।

लोग सामायिक के फल स्वरूप पौद्गलिक सुख चाहते है । यानि इस भव मे धन, जन, प्रतिष्ठा आदि और पर-भव मे इन्द्र अहमिन्द्रादि पद प्राप्त होने की इच्छा करते है । यदि यह मिला तब तो सामायिक आदि धर्म करणी को

सफल समझते है अन्यथा निष्फल मानते हैं। इस प्रकार के विपरीत फल चाहने के कारण ही आत्मा अब तक सामायिक के वास्तविक फल से वंचित रहा है। यदि अब भी आत्मा की भावना ऐसी ही रही यानि आत्मा सामायिक के फल स्वरूप इसी तरह की सांसारिक सम्पदा चाहता रहा तो आत्मा उस आध्यात्मिक लाभ से वंचित रहेगा ही, जिसके सामने संसार की समस्त सम्पदा तुच्छ है। सामायिक के वास्तविक फल की तुलना मे सासारिक सम्पदा किस प्रकार तुच्छ है, यह बताने के लिए भगवान् महावीर के समय की एक घटना का वर्णन किया जाता है।

एक समय मगधाधीश महाराजा श्रेणिक ने श्रमण भगवान् महावीर से अपने भावी भव के सम्बन्ध मे पूछा। वीतराग भगवान् महावीर को राजा श्रेणिक की प्रसन्नता अप्रसन्नता की कोई अपेक्षा न थी। इसलिए राजा श्रेणिक के प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने राजा श्रेणिक से कहा कि—राजन्! यहां का आयुष्य पूर्ण करके तुम रत्नप्रभा पृथ्वी यानी प्रथम नरक मे उत्पन्न होओगे। राजा श्रेणिक ने भगवान् से फिर प्रश्न किया कि प्रभो! क्या कोई ऐसा उपाय भी है कि जिससे मैं नरक की यातना से बच सकू ? भगवान् ने उत्तर दिया कि उपाय तो अवश्य हैं लेकिन ये उपाय तुम कर न सकोगे। जब श्रेणिक ने भगवान् से उपाय बताने के लिए आग्रह किया तब भगवान् ने उसे ऐसे चार उपाय बताये, जिनमे से किसी भी एक उपाय के करने पर भी वह नरक जाने से बच सकता था। उन चार उपायो मे के एक उपाय पूनिया श्रावक की सामायिक खरीद लेना था।

महाराजा श्रेणिक पूनिया श्रावक के पास जाकर उससे बोले-भाई पूनिया ! तुम मुझ से इच्छानुसार धन ले लो और उसके बदले मे मुझे अपनी सामायिक दे दो। राजा के इस कथन के उत्तर मे पूनिया श्रावक ने कहा— सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है, यह मैं नही जानता हूँ। इसलिए जिनने आपको मेरी सामायिक लेना बताया है, आप उन्ही से सामायिक का मूल्य जान लीजिए।

राजा श्रेणिक फिर भगवान् महावीर की सेवा मे उपस्थित हुआ। उसने भगवान् को पूनिया श्रावक का कथन सुना कर पूछा कि पूनिया श्रावक की सामायिक का क्या मूल्य हो सकता है ? भगवान् ने राजा श्रेणिक से पूछा- तुम्हारे पास इतना सोना है कि जिसकी छप्पन पहाडिया बन जावें, परन्तु इतना धन तो सामायिक का दलाली के लिए भी पर्याप्त नही है, फिर सामायिक का मूल्य कहा से दोगे ? भगवान् का यह कथन सुन्कर राजा श्रेणिक चुप हो गया।

यह घटना इसी रूप मे घटी हो या दूसरे रूप में अथवा कथानक की कल्पना मात्र ही हो, किन्तु बताना यह है कि सामायिक के फल के सामने सांसारिक सम्पदा तुच्छ है, फिर वह कितनी और कैसी भी क्यो न हो ?

सामायिक की सफलता-निष्फलता को सामायिक करने वाला स्वय ही जान सकता है। कोई निन्दा करे या प्रशंसा करे, गाली दे या धन्यवाद दे, मारे-पीटे या छाया करे, धन हरण करे या प्रदान करने लगे, फिर भी अपने मन मे

किसी भी प्रकार का विषम भाव न लावे, रागद्वेष न होनें दे, किसी को प्रिय अप्रिय न माने, हृदय मे हर्ष शोक न होने दे, किन्तु अनुकूल और प्रतिकूल दोनो ही स्थितियो को समान माने, दु:ख से छूटने या सुख प्राप्त करने का प्रयत्न करे। यह माने कि ये पौद्गलिक संयोग-वियोग आत्मा से भिन्न हैं और आत्मा इनसे भिन्न हैं। इस संयोग वियोग से न तो आत्मा का हित ही हो सकता है न अहित ही। ऐसा सोच कर जो समभाव मे स्थिर रहते हैं, उन्ही की सामायिक सफल है। इस प्रकार जिनमे आत्मदृढता है, वे ही सामायिक को सफल बना सकते हैं। इसके विरुद्ध जिनकी आत्मा कमजोर है, वे लोग थोडा दु.ख होते ही घबरा कर और थोडा सुख होते ही प्रसन्न होकर सामायिक के ध्येय को भूल जाते हैं। वे सामायिक को सफल बना सकते। जिनकी आत्मा दृढ है, वे लोग यह भावना रखते हैं कि—

होकर सुख मे मग्न न फूलू, दु:ख में कभी न घबराऊं।
पर्वत नदी श्मशान भयकर, अटवी से नहि भय खाऊं॥
रहूं सदा अडोल अकम्पित, यह मन दृढतर बन जावे।
इष्ट वियोग, अनिष्ट योग में, सहनशीलता दिखलावे॥

जो इस प्रकार की भावना रखता है और ऐसी भावना को कार्यान्वित करता है, वही प्रत्येक स्थिति में समभावी रह सकता है और सामायिक का फल प्राप्त करता है।

यह तो हुई सामायिक का फल जानने की बात। किन्तु सामायिक करने वाले को ससार में अपना

बाह्य व्यवहार भी ऐसा रखना चाहिए कि जिससे जनता में भी सामायिक का फल प्राप्त होना जाना जा सके। इसके लिए उन कामो से सदा बचे रहना चाहिए, जो आत्मा मे विषम-भाव उत्पन्न करते हैं। यद्यपि संसार-व्यवहार मे रहे हुए व्यक्ति के लिए हिंसा, झूठ आदि का सर्वथा त्याग करना कठिन है फिर भी सामायिक करने वाले श्रावक का लक्ष्य यही होना चाहिए कि मैं अन्य समय मे भी हिंसा, झूठ आदि से जितना भी बच सकू, उतना ही अच्छा है। इस बात को लक्ष्य में रख कर श्रावक को उन कामों से सदा वचे रहना चाहिए, जिनसे इस लोक मे अपकीर्त्ति होती है और परलोक बिगडता है।

कई लोग समझते हैं कि 'हम संसार-व्यवहार में चाहे जो कुछ करें, हिंसा, झूठ, चोरी आदि पाप कार्य का कितना भी आचरण करें, सामायिक कर लेने पर वे सव पाप नष्ट हो जाते हैं और हम पाप-मुक्त हो जाते हैं। संसार-व्यवहार तो पापपूर्ण ही है। पाप किये बिना ससार-व्यवहार चल ही नही सकता।' इस तरह समझने के कारण कई लोग कृत पाप से मुक्ति पाने के लिए ही सामायिक करते हैं किन्तु पाप-कार्य का त्याग आवश्यक नही मानते हैं। लेकिन इस तरह की समझ वाले लोगो ने सामायिक करने का उद्देश्य ही नही समझा है और न उन्हे सामायिक का फल ही ज्ञात हुआ है। ज्ञानियो का कथन है कि जो लोग कृत-पाप से मुक्ति पाने के लिए सामायिक करते हैं अर्थात् पाप-कार्य का त्याग न करके सामायिक द्वारा पाप के फल से वचना चाहते हैं, वे लोग वास्तव मे सामायिक नही करते हैं, किन्तु धर्मठगाई करते हैं। ऐसे व्यक्ति संसार से धर्म का

अपमान कराते हैं और सामायिक का महत्त्व घटाते हैं। इतना ही नही किन्तु वे लोग अपने को अधिक पाप मे फंसाते हैं। सामायिक से पाप नष्ट हो जाते हैं या पाप का फल नही भोगना पडता, ऐसी मान्यता वाले लोग पाप-कर्म करने की ओर से निर्भय हो जाते हैं और पुन· पुनः पाप करते हैं। इसलिए इस तरह की मान्यता त्याज्य है। सामायिक करने वाले का उद्देश्य पाप-कार्य से सदा बचते रहना ही होना चाहिए। उसकी भावना यह रहनी चाहिए कि सामायिक के समय ही नही, किन्तु ससार व्यवहार के समय भी मुझे आत्मा को विस्मृत न होने देना चाहिए और यदि मुझे आरम्भादि में प्रवृत्त होना पडे तो उन कार्यों मे गृद्धि या मूर्छा न रख कर इस तरह का विवेक रखना चाहिए कि जिसमे आस्रव के स्थान पर भी सवर उपजे। जो लोग ऐसी भावना रखते हैं और ऐसी भावना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न करते हैं, उन्ही का सामायिक करना सफल है और उन्होने सामायिक करने का उद्देश्य भी समझा है। जिसमे इस तरह की भावना नही है, अथवा जो ऐसी भावना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न नही करता है, उसने सामायिक का उद्देश्य भी नही समझता है, न उसकी सामायिक ही सफल हो सकती है। ऐसे व्यक्ति का सामायिक करना, केवल प्रशसा या प्रतिष्ठा अथवा धर्म-ठगाई के लिए या स्वार्थ-साधन के लिए चाहे हो, सामायिक के वास्तविक फल के लिए नही है।

कई पूर्वाचार्य, सामायिक के फल स्वरूप कई पल्योपम या सागरोपम के नरक का आयुष्य टूटना और देवता का आयुष्य बधना बताते है। किसी अपेक्षा से यह बात ठीक

भी हो सकती है, लेकिन इस फल की कामना के विना जो सामायिक की जाती है, उसका फल बहुत ज्यादा है । इसलिए सामायिक इस तरह के पारलौकिक फल की कामना रख कर करना ठीक नही है. किन्तु इसलिए करनी चाहिए कि मेरा आत्मा सदा जागृत रहे और पाप से बचा रहे । जिस प्रकार घडी में एक वार चाबी देने पर वह किसी नियत समय तक बराबर चला करती है, इसी तरह सामायिक करने वाले को भी एक वार सामायिक करने के पश्चात् पाप कर्म से सदा बचते रहना चाहिए तथा ससार व्यवहार में भी समाधि भाव रखना चाहिए, किसी पारलौकिक या इहलौकिक फल की लालसा न करनी चाहिए । ऐसे फल की लालसा से सामायिक का महत्व घट जाता है । इसके विरुद्ध जो सामायिक ऐसे फल की लालसा के के विना केवल आत्मशुद्धि के लिए ही की जाती है, उसका महत्त्व वहुत अधिक है ।



सामायिक कैसी हो ?

सामायिक इस तरह करनी चाहिए कि जिससे दूसरे के हृदय मे सामायिक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न हो और दूसरे लोग सामायिक करने के लिए उद्यत हों। सामायिक करने के लिए सबसे पहले भूमिका की शुद्धि होना आवश्यक है। यदि भूमि शुद्ध होती है तो उसमे बोया हुआ बीज भी फल-दायक होता है। इसके विरुद्ध जो भूमि शुद्ध नही है, उसमे बोया गया बीज भी सुन्दर और सुस्वादु फल नही दे सकता। इसके अनुसार सामायिक के लिए भी भूमिका की शुद्धि आवश्यक है। सामायिक के लिये चार प्रकार की शुद्धि आवश्यक है। द्रव्य शुद्धि, क्षेत्र शुद्धि, काल शुद्धि और भाव शुद्धि। इस शुद्धि के साथ जो सामायिक की जाती है, वही सामायिक पूर्ण फलदायिनी हो सकती है। इन चारो तरह की शुद्धि की भी थोडे मे व्याख्या की जाती है।

१. द्रव्य शुद्धि—सामायिक के लिए जो द्रव्य-जैसे भण्डोपकरण, वस्त्र, पुस्तक आदि आवश्यक हैं, उनका शुद्ध होना जरूरी है। भण्डोपकरण यानी मु हपत्ती, आसन, रजो-हरण, (पूंजनी) माला (सुमरनी) आदि ऐसे हो, जिनसे किसी प्रकार की अयतना न हो। ये उपकरण जीवो की यतना (रक्षा) के उद्देश्य से ही रखे जाते हैं, इसलिए ऐसे होने चाहिए कि जिनके द्वारा जीवो की यतना हो सके।

कई लोग सामायिक में ऐसे आसन रखते हैं जो रुवें वाले या सिले हुए होते हैं, अथवा सुन्दरता के लिए रग-विरगे टुकड़ो को जोड कर बनाये गए होते हैं। ऐसे आसन का भली-भांति प्रतिलेखन नही हो सकता। इसलिए आसन ऐसा होना ही अच्छा है जो साफ हो, बिना सिला हुआ एक ही टुकड़े का हो, बहुरगा न हो, न विकारोत्पादक भड़कीला ही हो, किन्तु सादा हो। इसी प्रकार पूंजनी और माला भी सादी तथा ऐसी होनी चाहिए कि जिनसे जीवो की यतना हो, किन्तु अयतना न हो। कई लोगो के पास ऐसी पूजनिया होती हैं, जो केवल शोभा के लिए ही होती हैं, जिनसे सुविधापूर्वक पूंजा नही जा सकता। इस तरह के उपकरण शुद्ध नही कहे जा सकते। पूजनी सादी होनी चाहिए तथा ऐसी होनी चाहिए कि जिससे भली-भाति पूजा जा सके। इसी तरह माला भी ऐसी हो कि जिसे फिराने पर किसी तरह अयतना न हो। वस्त्र भी सादे एव स्वच्छ होने चाहिए। ऐसे चमकाले भडकोले न होने चाहिए कि जिनसे अपने या दूसरे के चित्त मे किसो प्रकार की अशाति हो, न ऐसे गन्दे ही हो कि जिनके कारण दूसरे को घृणा हो अथवा जिन पर मक्खिया भिनभिनाती हो। पुस्तके भी एसी हो जो आत्मा की ज्योति को प्रदीप्त करें। जिनसे किसी प्रकार का विकार उत्पन्न होता हो, ऐसी पुस्तके न होनी चाहिए।

२. क्षेत्र शुद्धि—क्षेत्र से मतलब उस स्थान से है, जहा सामायिक करने के लिए बैठना है, या बैठा है। ऐसा स्थान भी शुद्ध होना आवश्यक है। जिस स्थान पर बैठने से विचार-धारा टूटती हो, चित्त मे चचलता आती हो,

अधिक स्त्री-पुरुष या पशु-पक्षी का आवागमन अथवा निवास हो, विपय-विकार उत्पन्न करने वाले शब्द कान मे पड़ते हो, दृष्टि मे विकार आता हो, या क्लेश उत्पन्न होने की सम्भावना हो, उस स्थान पर सामायिक करने के लिए बैठना ठीक नही है। सामायिक करने के लिए वही स्थान उपयुक्त हो सकता है, जहा चित्त स्थिर रह सके, आत्मचिंतन किया जा सके। गुरु महाराज या स्वधर्मी वन्धुओ का सामीप्य हो, जिससे ज्ञान की वृद्धि हो सके। इस तरह के स्थान पर सामायिक करना क्षेत्र-शुद्धि है। आत्मा को उच्च दशा मे पहुचाने वाले साधनो में क्षेत्र शुद्धि भी आवश्यक है।

३ काल शुद्धि—काल का मतलब है—समय। समय का विचार रख कर जो सामायिक की जाती है, वह सामायिक निर्विघ्न और शुद्ध होती है। समय का विचार न रख कर सामायिक करके बैठने पर सामायिक मे अनेक प्रकार के सकल्प विकल्प होते हैं और चित्त शान्त नही रहता है। इसलिए सामायिक का काल भी शुद्ध होना चाहिए।

४ भाव शुद्धि - भाव शुद्धि से मतलब है मन, वचन और काय की एकाग्रता। मन, वचन, काय के योग की एकाग्रता जिन दोपो से नष्ट होती है, उन दोपो का त्याग करना, भाव शुद्धि है। भाव शुद्धि के लिए उन दोपो को जानना और उनसे वचना आवश्यक है जो दोप मन, वचन, काय के योग की एकाग्रता भग करते हैं।

इन चारो तरह की शुद्धि के साथ ही सामायिक

बत्तीस दोषों से रहित होनी चाहिए। किन कार्यों से सामायिक दूषित होती है और कौन से दोष सामायिक का महत्त्व घटाते हैं, यह नीचे बताया जाता है।

अविवेक जसो कित्ती-लाभत्थी, गव्व भय नियाणत्थी।
संसय रोस अविणउ अबहुमाणए दोसा भणियव्वा ॥

१. अविवेक--सामायिक के सम्बन्ध मे विवेक न रखना। कार्य के औचित्य-अनौचित्य अथवा समय-असमय का ध्यान न रखना 'अविवेक' नाम का पहिला दोष है।

२ यशकीर्ति—सामायिक करने से मुझे यश प्राप्त होगा, अथवा मेरी प्रतिष्ठा होगी, समाज मे मेरा आदर होगा, या लोग मुझे धर्मात्मा कहेगे आदि विचार से सामायिक करना 'यश-कीर्ति' नाम का दूसरा दोष है।

३. लाभार्थ—धन आदि के लाभ की इच्छा से सामायिक करना 'लाभार्थ' नाम का तीसरा दोष है। जैसे इस विचार से सामायिक करना कि सामायिक करने से व्यापार मे अच्छा लाभ होता है, 'लाभार्थ' नाम का दोष है।

४ गर्व—सामायिक के सम्बन्ध मे यह अभिमान करना कि मैं बहुत सामायिक करने वाला हूं, मेरी तरह या मेरे बराबर कौन सामायिक कर सकता है, या मैं कुलीन हूं आदि गर्व करना 'गर्व' नाम का चौथा दोष है।

५. भय—किसी प्रकार के भय के कारण जैसे राज्य, पच या लेनदार आदि से बचने के लिए सामायिक करके बैठ जाना 'भय' नाम का पाचवां दोष है।

६. निदान—सामायिक का कोई भौतिक फल चाहना, 'निदान' नाम का छठा दोष है। जैसे—यह सकल्प करके सामायिक करना कि मुझे अमुक पदार्थ या सुख मिले, अथवा सामायिक करके यह चाहना कि यह मैंने जो सामायिक की है, उसके फल स्वरूप मुझे अमुक वस्तु प्राप्त हो 'निदान' दोष है।

७ संदेह—सामायिक के फल के सम्बन्ध में सन्देह रखना 'सन्देह' नाम का सातवां दोष है। जैसे यह सोचना कि मैं जो सामायिक करता हूँ, मुझे उसका फल मिलेगा या नही अथवा मैंने इतनी सामायिक की फिर भी मुझे कोई फल नही मिला आदि सामायिक के फल के सम्बन्ध मे सन्देह रखना, 'सन्देह' नाम का सातवां दोष है।

८ कषाय—राग द्वेषादि के कारण सामायिक मे क्रोध, मान, माया, लोभ करना 'कषाय' नाम का आठवा दोष है।

९ अविनय—सामायिक के प्रति विनय-भाव न रखना अथवा सामायिक मे देव, गुरु, धर्म की आसातना करना, उनका विनय न करना 'अविनय' नाम का नवां दोष है।

१० अबहुमान—सामायिक के प्रति जो आदरभाव होना चाहिए, उस आदरभाव के बिना किसी दबाव से या किसी प्रेरणा से बेगारी की तरह सामायिक करना, 'अबहुमान' नाम का दसवां दोष है।

ये दसो दोष मन के द्वारा लगते हैं। इन दस दोषों से बचने पर सामायिक के लिए मन—शुद्ध होती है और

मन एकाग्र रहता है ।

कुवयण सहसाकारे सच्छन्द संखेव कलहं च ।
विगहा वि हासोऽशुद्ध निरवेक्खो मुणमुणा दोसा दस ।।

१ कुवचन—सामायिक में कुत्सित वचन बोलना 'कुवचन' नाम का दोष है ।

२ सहसाकार—बिना विचारे सहसा (निश्चयात्मक) इस तरह बोलना कि जिससे दूसरे की हानि हो और सत्य-भंग हो तथा व्यवहार में अप्रतीति हो, 'सहसाकार' नाम का दोष है ।

३ सच्छन्द—सामायिक मे ऐसे गीत गान, जिनसे अपने या दूसरे मे कामवृद्धि हो, 'सच्छन्द' दोप है ।

४. संक्षेप—सामायिक के पाठ या वाक्य को सक्षिप्त करके बोलना 'संक्षेप' दोप है ।

५. कलह—सामायिक मे कलहोत्पादक वचन बोलना, 'कलह' दोप है ।

६. विकथा—विना किसी सदुद्देश्य के स्त्री-कथा आदि चार विकथा करना, 'विकथा' दोप है ।

७. हास्य—सामायिक मे हंसना, कौतूहल करना अथवा व्यंग पूर्ण शब्द बोलना, 'हास्य' दोप है ।

८. अशुद्ध—सामायिक का पाठ जल्दी-जल्दी शुद्धि का ध्यान रखे बिना बोलना या अशुद्ध बोलना, 'अशुद्ध' दोप है ।

९. निरपेक्ष—सामायिक मे विना सावधानी रखे बोलना

'निरपेक्ष' दोष है ।

१० मुम्मन—सामायिक के पाठ आदि का स्पष्ट उच्चारण न करना किन्तु गुनगुन बोलना 'मुम्मन' दोष है।

ये दस दोष वचन सम्बन्धी हैं । इन दस दोषो से बचना वचन-शुद्धि है ।

कुआसणं चलासणं चलदिट्ठी,
सावज्ज किरिया लंबणा कुंचण पसारणं ।
निद्दा वेयावच्चति बारस काय दोसा ।।

१. कुआसन—कुआसन से बैठना जैसे पांव पर पाव चढाना आदि 'कुआसन' दोष है ।

२. चलासन—स्थिर आसन न बैठ कर बार-बार आसन बदलना, 'चलासन' दोष है ।

३. चल दृष्टि—दृष्टि को स्थिर न रखना, बार-बार इधर-उधर देखना 'चल दृष्टि' दोष है ।

४ सावद्य क्रिया—शरीर से सावद्य क्रिया करना, इशारा करना, घर की रखवाली करना, 'सावद्य क्रिया' दोष है ।

५. आलम्बन—बिना किसी कारण के दीवाल आदि का सहारा लेकर बैठना, 'आलम्बन' दोष है ।

६ अकुंचन पसारन—बिना प्रयोजन ही हाथ-पाव फैलाना समेटना, 'अकुंचन पसारन' दोष है ।

७ आलस्य—सामायिक मे बैठे हुए आलस्य मोडना, 'आलस्य' दोष है ।

८. मोडन—सामायिक में बैठे हुए हाथ पैर की उंगलियां चटकाना 'मोडन' दोष है।

९. मल दोष—सामायिक मे बैठे हुए शरीर पर से मैल उतारना 'मल' दोष है।

१०. विमासन—गले मे हाथ लगा कर शोक-ग्रस्त की तरह बैठना, अथवा विना पूंजे शरीर खुजलाना या चलना 'विमासन' दोष है।

११ निद्रा—सामायिक मे बैठे हुए निद्रा लेना, 'निद्रा' दोष है।

१२. वैयावृत्य अथवा कम्पन—सामायिक मे बैठे हुए निष्कारण ही दूसरे से वैयावच्च कराना 'वैयावृत्य' दोष है और स्वध्याय करते हुए घूमना यानी हिलना या शीत-उष्ण के कारण कापना 'कम्पन' दोष है।

ये बारह दोष काय के है। इन दोषों को टालने से कायशुद्धि होती है। मन, वचन और काय के दोष ऊपर बताये गये हैं, इन सब से बचना भाव-शुद्धि है। द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव, इन चारों की शुद्धि से सामायिक के लिए शुद्ध भूमिका तैयार होती है। विशुद्ध भूमिका मे पडा हुआ बीज ही नीरोग अकुर देता है और जो वृक्ष नीरोग है, वही फलद्रूम होता है।

सामायिक की भूमिका की विशुद्धि के पश्चात् सामायिक ग्रहण करने की विधि का भी पूरी तरह पालन होना चाहिए। सामायिक ग्रहण करने के लिए तत्पर व्यक्ति को

अपने शरीर पर एक धोती और एक ओढने का वस्त्र, इन दो वस्त्रों के सिवाय और कोई वस्त्र न रखना चाहिए। सिले हुए वस्त्र जैसे कोट, कुर्त्ता आदि और सिर पर जो वस्त्र हो, चाहे वह टोपी हो, पगड़ी हो, या साफा हो, त्याग देना चाहिए यानी उतार कर अलग रख देना चाहिए। पश्चात् सामायिक के लिए उपयोगी उपकरण जैसे रजोहरण मुख-वस्त्रिका और आसन आदि ग्रहण करके, उस भूमि को प्रमार्जित करना चाहिए, जहा बैठ कर सामायिक करना है। भूमि प्रमार्जन करके प्रमार्जित भूमि पर आसन बिछा, मुंहपत्ती बाध लेनी चाहिए और फिर नमस्कार मन्त्र का स्मरण करना चाहिए। नमस्कार मन्त्र का स्मरण करने के पश्चात् गुरु महाराज को वन्दन करके उनसे सामायिक करने की आज्ञा मागनी चाहिए।

यह सब हो जाने पर सामायिक करने से पहिले जीवो की अपने द्वारा जो विराधना हुई है, उसका ईरियापथिक पाठ द्वारा स्मरण करना चाहिए और विशेप स्मरण करने के लिए कायोत्सर्ग करना चाहिए। कायोत्सर्ग का उद्देश्य, कायोत्सर्ग करने को विधि और कायोत्सर्ग मे रहने पर शरीर की प्राकृतिक क्रियाओ के होने पर भी कायोत्सर्ग अभग रहने के लिए, कायोत्सर्ग के नियमो का स्मरण 'तस्स उत्तरी' पाठ द्वारा करके यह प्रतिज्ञा करे कि मेरा कायोत्सर्ग तब तक अभंग रहे, जब तक मैं 'अरिहन्त भगवान् को नमस्कार रूप' वाक्य न बोलू। 'तस्स उत्तरी' पाठ पूर्ण होते ही, कायोत्सर्ग करके उन दोषों को विशेष रूप से स्मरण करके आलोचना करे, जो जीवो की विराधना से हुए हो।

कायोत्सर्ग समाप्त होने पर आतमा को शुद्ध दशा मे—

सामायिक के समय चित्त स्थिर रखने में समर्थ होते हैं।

सामायिक मे चित्त स्थिर रखने के लिए खान-पान और रहन-सहन का शुद्ध होना भी आवश्यक है। इसलिए भूमिका शुद्ध करके सामायिक करने पर भी जब कभी सामायिक मे चित्त न लगे, तब अपने खान-पान और रहन-सहन की आलोचना करके, चित्त स्थिर न रहने के कारण की खोज करनी चाहिए और उस कारण को मिटाना चाहिए। खान-पान और रहन-सहन की छोटी-सी अशुद्धि भी चित्त को अस्थिर बना देती है। यह बताने के लिए एक कथित घटना का उल्लेख यहा अप्रासगिक न होगा।

एक धर्मनिष्ठ श्रावक था। वह नियमित रूप से सामायिक किया करता था और इसके लिए उन सब नियमोपनियमों का भली प्रकार पालन करता था, जिनका पालन करने पर शुद्ध रीति से सामायिक होती है, अथवा सामायिक करने का उद्देश्य पूरा होता है।

एक दिन वह श्रावक, नित्य की तरह सामायिक करने के लिए बैठा। नित्य तो उसका चित्त सामायिक में लगता था परन्तु उस दिन उसके चित्त की चंचलता न मिटी। उसने अपने चित्त को स्थिर करने का बहुत प्रयत्न किया, लेकिन सब व्यर्थ। वह सोचने लगा कि आज ऐसा कौनसा कारण हुआ है, जिससे मेरा चित्त सामायिक मे नही लगता है किन्तु इधर-उधर भागा ही फिरता है? इस तरह सोच कर उसने अपने सब कार्यों की आलोचना की, अपने खान-पान की आलोचना की किन्तु उसे ऐसा कोई कारण न जान पडा, जो सामायिक मे चित्त को स्थिर न रहने दे! अन्त मे उसने विचार किया कि मैं अपनी पत्नी से तो पूछ

देखूं कि उसने तो कोई ऐसा कार्य नही किया है, जिसके कारण मेरा चित्त सामायिक में नही लगता है। इस तरह विचार कर उसने अपनी पत्नी को कहा कि आज सामायिक मे मेरा चित्त अस्थिर रहा, स्थिर नही हुआ। मैंने अपने कार्य एव खानपान की आलोचना की, फिर भी ऐसा कोई कारण न जान पड़ा, जिससे चित्त मे अस्थिरता आवे। क्या तुमसे कोई ऐसा कार्य हुआ है, जिसका प्रभाव मेरे खान-पान पर पड़ा हो और मेरा चित्त सामायिक मे अस्थिर रहा हो।

उस श्रावक की पत्नी भी धर्मपरायणा श्राविका थी। पति का कथन सुनकर उसने भी अपने सब कार्यों की आलोचना की। पश्चात् वह अपने पति से कहने लगी कि मुझ से दूसरी तो कोई ऐसी त्रुटि नही हुई है, जिससे आपके खान-पान मे दूषण आवे और आपका चित्त सामायिक मे न लगा हो परन्तु मेरे घर मे आज आग नही थी। मैं भोजन बनाने के लिए चूल्हा सुलगाने के वास्ते पड़ोसिन के घर के द्वार पर पहुंची, तब मुझे याद आया कि मैं आग ले जाने के लिए कुछ लाई नही, फिर आग किसमे ले जाऊंगी? मैं आग लाने के लिए कडा ले जाना भूल गई थी। पड़ोसिन के द्वार पर कुछ कंडे पड़े हुए थे। मैंने सहज भाव से उन कडों मे से एक कडा उठा लिया और पडोसिन के यहा के उस कडे को भी मैंने भोजन बनाते समय चूल्हे मे जला दिया। पडोसिन के घर से मैं बिना पूछे जो कडा लाई थी, वह कडा चोरी या बे-हक का था। इसलिए हो सकता है कि मेरे इस कार्य के कारण ही आपका चित्त सामायिक मे न लगा हो, क्योंकि उस कडे

को जला कर बनाया गया भोजन आपने भी किया था।

पत्नी का कथन सुन कर श्रावक ने कहा—बस ठीक है! उस कंडे के कारण ही आज मेरा चित्त सामायिक में नही लगा क्योंकि वह कडा अन्यायोपार्जित था। अन्योपार्जित वस्तु या उसके द्वारा बनाया गया भोजन जब पेट मे हो तब चित्त स्थिर कैसे रह सकता है? अब तुम पड़ोसिन को एक के बदले दो कण्डे वापस करो, उससे क्षमा मागो और इस पाप का प्रायश्चित्त करो। श्राविका ने ऐसा ही किया। यह कथानक या घटना ऐसे ही घटी हो या रूपक मात्र हो इसका मतलब तो यह है कि जो शुद्ध सामायिक करना चाहता है, उसको अपना खान-पान और रहन-सहन भी शुद्ध रखना चाहिए और जब भी सामायिक मे चित्त न लगे, अपने खान-पान और रहन-सहन की आलोचना करके अशुद्धि मिटानी चाहिए। जिस व्यक्ति का आहार-विहार शुद्ध है तो चित्त स्थिर अवश्य रहेगा लेकिन यदि शुद्ध नही है तो उस दशा मे सामायिक मे चित्त स्थिर कैसे रह सकता है?

सामायिक मे बैठे हुए व्यक्ति को शात और गम्भीर भी रहना चाहिए। साथ ही सब के प्रति सम-भाव रखना चाहिए, चाहे किसी के द्वारा अपनी कैसी भी हानि क्यो न हुई हो या क्यो न हो रही हो। सामायिक मे बैठा हुआ श्रावक इस पंचम आरे मे भी किस प्रकार समभाव रखता है तथा भौतिक पदार्थ की हानि से अपना चित्त अस्थिर नही होने देता है, यह बताने के लिए एक घटना का वर्णन किया जाता है, जो सुनी हुई है।

दिल्ली में एक जौहरी श्रावक सामायिक करने के लिए बैठा। सामायिक मे बैठते समय उसने अपने गले मे पहना हुआ मूल्यवान कण्ठा उतार कर अपने कपडो के साथ रख दिया था। वहाँ पर एक दूसरा श्रावक भी उपस्थित था। उस दूसरे श्रावक ने जौहरी श्रावक को कण्ठा निकाल कर रखते देखा था। जब वह जौहरी श्रावक सामायिक मे था तब उस दूसरे श्रावक ने जौहरी के कपडों मे से वह कण्ठा निकाला और जौहरी को कण्ठा बता कर उससे कहा—मैं यह कण्ठा ले जाता हूँ। यह कह कर वह दूसरा श्रावक कण्ठा लेकर कलकत्ता के लिए चल दिया। यद्यपि वह कण्ठा मूल्यवान था और जौहरी श्रावक के देखते हुए बल्कि जौहरी श्रावक को बताकर वह दूसरा श्रावक कण्ठा ले जा रहा था, फिर भी जौहरी श्रावक सामायिक से विचलित नही हुआ। यदि वह चाहता तो उस दूसरे श्रावक को कण्ठा ले जाने से रोक सकता था, अथवा हो-हल्ला करके उसको पकडवा सकता था लेकिन यदि वह ऐसा करता तो उसकी सामायिक भी दूषित होती और सामायिक लेते समय उसने जो प्रत्याख्यान किया था, वह भी टूटता। जौहरी श्रावक दृढ निश्चयी था, इसलिए कण्ठा जाने पर भी वह सामायिक मे समभाव प्राप्त करता रहा।

सामायिक करके जौहरी श्रावक अपने घर आया। उसके उस समय भी उसको कण्ठा जाने का खेद नही था। उसके घर वालो ने उसके गले में कण्ठा न देख कर, उससे कण्ठे के लिए पूछा भी कि कण्ठा कहा गया? लेकिन उसने घर वालो को भी कण्ठे का पता नहीं बताया। उनसे यह भी नही कहा कि मैं सामायिक मे बैठा हुआ था, ...

सोंठ लेने गये है। वह आदमी श्रावक की पुत्र-वधू का उत्तर सुनकर, बाजार में जाकर श्रावक की खोज करने लगा, परन्तु उसे श्रावक का पता न मिला। वह फिर श्रावक के घर आया और उसने श्रावक की पुत्र-वधू से कहा कि सेठजो बाजार मे तो नही मिले, वे कहा गये हैं? श्रावक की पुत्र-वधू ने उत्तर दिया—अब वे मोची-बाजार मे जूता पहनने गये हैं। वह आदमी फिर श्रावक की खोज मे गया, परन्तु श्रावक वहां भी नहीं मिला। इसलिए लौट कर उसने फिर श्रावक की पुत्र-वधू से कहा - वे तो मोची बाजार मे भी नही मिले! मुझे उनसे एक आवश्यक कार्य है, इसलिए, ठीक बता दो कि वे कहां गये है। पुत्र-वधू ने उत्तर दिया कि अब वे सामायिक मे हैं।

वह आदमी बैठ गया। श्रावक की सामायिक समाप्त हुई। सामायिक पाल कर उसने उस आदमी से बातचीत की और फिर अपनी पुत्र-वधू से कहने लगा कि तुम जानती थी कि मैं सामायिक में बैठा था, फिर भी तुमने उस आदमी को सच्ची बात न बता कर व्यर्थ के चक्कर क्यों दिए? श्वसुर के इस कथन के उत्तर मे बहू ने नम्रता-पूर्वक कहा—मैने जैसा देखा, उस आदमी से वैसा ही कहा। आप शरीर से तो सामायिक मे बैठे थे, लेकिन आपका चित्त पसारी और मोची के यहां गया था या नहीं?

पुत्र-वधू का उत्तर सुनकर, उस श्रावक ने अपनी भूल स्वीकार की और भविष्य में सावधान रह कर सामायिक करने की प्रतिज्ञा की।

यह कथा कल्पित है या वास्तविक है, यह नही कहा

जा सकता । इसके द्वारा बताना यह है कि निश्चय नय वाले द्रव्य सामायिक को सामायिक नही मानते, किन्तु उसी सामायिक को सामायिक मानते हैं जो मन, वचन, काय को एकाग्र रख कर उपयोग सहित की जाती है और जिसमें आत्म-भाव मे तल्लीनता होती है। ऐसी सामायिक से ही आत्म-कल्याण भी होता है और ऐसी सामायिक का ही लोगो पर प्रभाव भी पडता है, यानी धर्म और सामायिक के प्रति लोगो के हृदय मे श्रद्धा होती है।

सामायिक व्रत के अतिचार

सामायिक व्रत के पांच अतिचार हैं, मन दुष्प्रणिधान, वचन-दुष्प्रणिधान, कायदुष्प्रणिधान, सामायिक मति-भ्रंश और सामायिकानवस्थिति ।

(१) मन का सामायिक के भावों से बाहर प्रवृत्ति करना, मन को सांसारिक प्रपंचो में दौडाना और अनेक प्रकार के सांसारिक कार्य विषयक संकल्प-विकल्प करना, मन-दुष्प्रणिधान नाम का अतिचार है ।

(२) सामायिक के समय विवेक-रहित कटु, निष्ठुर व असभ्य वचन बोलना, निरर्थक या सावद्य वचन कहना, वचन-दुष्प्रणिधान है ।

(३) सामायिक में शारीरिक चपलता दिखलाना, शरीर से कुचेष्टा करना, बिना कारण शरीर को फैलाना, सिकोड़ना या असावधानी से चलना, कायदुष्प्रणिधान है ।

(४) मैंने सामायिक की है, इस बात को भूल जाना कितनी सामायिक ग्रहण की है, यह विस्मृत कर देना अथवा सामायिक करना ही भूल जाना, सामायिक मति-भ्रंश है ।

(५) सामायिक से ऊबना, सामायिक का समय पूरा

हुआ या नहीं, इस बात का बार-बार विचार लाना या सामायिक का समय पूर्ण होने से पहिले ही सामायिक समाप्त कर देना, सामायिकानवस्थिति है। यदि सामायिक का समय पूर्ण होने से पहिले जान-बूझ कर सामायिक समाप्त की जाती है, तब तो अनाचार है लेकिन 'सामायिक का समय पूर्ण हो गया होगा' ऐसा विचार कर समय पूर्ण होने से पहिले ही सामायिक समाप्त कर दे तो अतिचार है।

इन पाचो अतिचारो को जान कर इनसे बचने पर ही सामायिक व्रत का पूरी तरह पालन हो सकता है।



देशावकाशिक व्रत

श्रावक के बारह व्रतों में से दसवा और शिक्षा व्रतों मे से दूसरा व्रत देशावकाशिक है। श्रावक अहिंसादि पांच अणुव्रतों को प्रशस्त बनाने और उनमे गुण उत्पन्न करने के लिए दिक् परिमाण तथा उपभोग-परिभोग परिमाण नाम के जो व्रत स्वीकार करता है, उनमे वह अपनी आवश्यकता और परिस्थिति के अनुसार जो मर्यादा रखता है, वह जीवन भर के लिए होती है। यानि दिक् व्रत और उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत जीवन भर के लिए स्वीकार किये जाते हैं और इसलिए इन व्रतों को स्वीकार करते समय जो मर्यादा (छूट) रखी जाती है वह भी जीवन भर के लिए होती है। लेकिन श्रावक ने व्रत लेते समय जो मर्यादा रखी है, अर्थात् आवागमन के लिए जो क्षेत्र रखा है तथा भोग्योपभोग्य के लिए जो पदार्थ रखे हैं, उन सब का उपयोग वह प्रति दिन नही करता है। इसलिए एक दिन रात के लिए उस मर्यादा को भी घटा देना, आवागमन के क्षेत्र और भोग्योपभोग्य पदार्थ की मर्यादा को कम कर देना ही देशावकाशिक व्रत है। स्थानाङ्ग सूत्र के चतुर्थ स्थान के तीसरे उद्देशे में टीकाकार इस व्रत की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

देशे दिग्व्रतग्रहीतस्य दिक्परिमाणस्य विभागोऽवकाऽवस्थानमवतारो विषयो तस्य तद्देशावकाशं तदेव देशावका-

शिकम् दिग्व्रतग्रहीतस्य दिक्परिमाणस्य प्रतिदिनं संक्षेप करण लक्षणे वा ।

अर्थात्—दिक् व्रत धारण करने में जो अवकाश रखा है, उसको प्रति दिन संक्षेप करने का नाम देशावकाशिक व्रत है ।

इस पर से यह प्रश्न होता है कि उक्त टीका में तो दिक्परिमाण व्रत मे रखी गई मर्यादा घटाने को ही देशावकाशिक व्रत कहा गया है । उपभोग्य-परिभोग्य पदार्थ की मर्यादा घटाने का विधान इस जगह नही है । फिर दिक् व्रत और उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत, इन दोनो मे रखी गई मर्यादा घटाने का विधान क्यो किया जाता है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए वृत्तिकार कहते हैं:—

दिग्व्रत मक्षेपकरणमणुव्रताऽऽदिसक्षेपकरणस्याप्युपलक्षणं द्रष्टव्यं तेषामपि संक्षेपस्यावश्यं कर्त्तव्यत्वात् ।

अर्थात्–देशावकाशिक व्रत मे दिक् व्रत की मर्यादा का संक्षेप करना मुख्य है, लेकिन उपलक्षण से अन्य अणुव्रतो को भी अवश्य सक्षेप करना चाहिए, ऐसा वृद्ध पुरुष प्रतिपादन करते आये हैं ।

इस कथन से स्पष्ट है कि जिस व्रत मे जो मर्यादा रखी गई है, उन सभी मर्यादाओ को घटाना, आवश्यकता से अधिक रखी हुई मर्यादा को परिमित कर डालना ही देशावकाशिक व्रत है । उदाहरण के लिए चौथे अणुव्रत मे स्वदार विषयक जो मर्यादा रखी गई है, उसको भी घटाना । इसी प्रकार पांचवें और सातवे व्रत में रखी गई मर्यादा भी घटाना । इस प्रकार व्रत स्वीकार करते समय जो मर्यादा

रखी गई है, उस मर्यादा को घटा डालना, यही देशाव-काशिक व्रत है ।

अब यह बताया जाता है कि इस देशावकाशिक व्रत को स्वीकार करने का उद्देश्य क्या है ।

विवेकी श्रावक की सदा यह भावना रहा करती है कि 'वे लोग धन्य हैं, जिन्होंने अनित्य, अशाश्वत एवं अनेक दुःख के स्थान रूप गृहवास को त्याग कर संयम ले लिया है । मैं ऐसा करने के लिए अभी सशक्त नहीं हूं, इसी से गार्हस्थ्य जीवन बिता रहा हूं । फिर भी मुझसे जितना हो सके, मैं गृहवास मे रहता हुआ भी त्याग-मार्ग को अपनाऊं ।' इस भावना के कारण श्रावक ने व्रत स्वीकार करते समय जो मर्यादा रखी है उस मर्यादा को भी वह घटाता है, जो अवकाश रखा है उसे भी संक्षेप करता है और इसी के लिए व्रत को स्वीकार करता है ।

श्रावक के लिए प्रति दिन चौदह नियम चिन्तन करने की जो प्रथा है, वह प्रथा इस देशावकाशिक व्रत का ही रूप है । उन चौदह नियमों का जो प्रतिदिन विवेकपूर्वक चिन्तन करता है, उन नियमों के अनुसार मर्यादा करता है तथा मर्यादा का पालन करता है, वह सहज ही महा लाभ प्राप्त कर लेता है । ग्रन्थों में वे नियम इस प्रकार कहे गए हैं—

सचित्त दव्व विग्गई, पंन्नो ताम्बुल वत्थ कुसुमेपु ।
वाहण सयण विलेवण, बम्भ दिशि नाहण भत्तेपु ॥

अर्थात्—१-सचित्त वस्तु, २-द्रव्य, ३-विगय, ४-जूते, खडाऊ, ५-पान, ६-वस्त्र, ७-पुष्प, ८-वाहन, ९-शयन, १०-विलेपन, ११-ब्रह्मचर्य, १२-दिक्, १३-स्नान और १४ भोजन ।

१ सचित्त—पृथ्वी, पानी, वनस्पति, फल-फूल, सुपारी, इलायची, वादाम, धान्य-बीज आदि सचित्त वस्तुओ का यथाशक्ति त्याग अथवा यह परिमाण करे कि मैं इतने द्रव्य और इतने वजन से अधिक उपयोग मे न लू गा।

२ द्रव्य—जो पदार्थ स्वाद के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार से तैयार किये जाते हैं, उनके विषय मे यह परिमाण करे कि आज मैं इतने द्रव्य से अधिक द्रव्य उपयोग मे न लू गा। यह मर्यादा खान-पान विषयक द्रव्यो की की जाती है।

३-विगय—शरीर मे विकृति उत्पन्न करने वाले पदार्थो को विगय कहते हैं। दूध, दही, घृत, तेल और मिठाई ये पाच सामान्य विगय हैं। इन पदार्थो का जितना भी त्याग किया जा सके, उतने का करे अथवा मर्यादा करे कि आज मैं अमुक-अमुक पदार्थ काम मे न लू गा अथवा अमुक पदार्थ इतने वजन से अधिक काम मे न लू गा।

मधु और मक्खन ये दो विशेष विगय हैं। इनका निष्कारण उपयोग करने का त्याग करे और सकारण उपयोग करने की मर्यादा करे।

मद्य एवं मांस ये दो महा विगय है। श्रावक को इन दोनो का सर्वथा त्याग करना चाहिए।

४ पन्नी—पाव की रक्षा के लिए जो चीजें पहनी जाती हैं, जैसे-जूते, मोजे, खडाऊ, बूट आदि इनकी मर्यादा करे।

५ ताम्बूल—जो वस्तु भोजनोपरान्त मुखशुद्धि के

लिए खाई जाती है, उनकी गणना ताम्बूल मे है, जैसे-पान, सुपारी, इलायची, चूरन आदि । इनके विषय में भी मर्यादा करे ।

६ वस्त्र—पहनने, ओढने के कपडों के लिए यह मर्यादा करे कि अमुक जाति के इतने वस्त्र से अधिक वस्त्र काम मे न लूंगा ।

७ कुसुम—सुगन्धित पदार्थ, जैसे-फूल, इत्र, तेल व सुगन्धादि के विषय मे भी मर्यादा करे ।

८ वाहन—हाथी, घोडा, ऊंट, गाडी, ताँगा, मोटर, रेल, नाव, जहाज आदि सवारी के साधनो की (चाहे वे साधन स्थल के हो अथवा जल या आकाश के हो) यह मर्यादा करे कि मैं अमुक-अमुक वाहन के सिवाय आज और वाहन काम में न लूंगा ।

९ शयन - शैया, पाट, पाटला, पलंग, बिस्तर आदि के विषय मे मर्यादा करे ।

१० विलेपन—शरीर पर लेपन किए जाने वाले द्रव्य जैसे—केसर, चन्दन, तेल, साबुन, अजन-मजन आदि के सम्बन्ध मे प्रकार एव भार की मर्यादा करे ।

११ ब्रह्मचर्य—स्थूल ब्रह्मचर्य यानी स्वदार-सन्तोष, परदार-विवर्जन रूप व्रत स्वीकार करते समय जो मर्यादा रखी है, उसका भी यथाशक्ति सकोच करे, पुरुष पत्नी-संसर्ग के विषय मे और स्त्री पति-संसर्ग के विषय मे त्याग अथवा मर्यादा करे ।

१२ दिशि—दिक्परिमाण व्रत स्वीकार करते समय आवागमन के लिए मर्यादा मे जो क्षेत्र जीवन भर के लिए रखा है, उस क्षेत्र का भी सकोच करे तथा यह मर्यादा करे कि आज मैं इतनी दूर से अधिक दूर ऊर्ध्व, अधः या तिर्यक् दिशा मे गमनागमन न करूगा।

१३ स्नान - देश या सर्व स्नान के लिए भी मर्यादा करे कि आज इससे अधिक न करूंगा। शरीर के कुछ भाग को धोना देश स्नान है और सब भाग का धोना सर्व स्नान कहा जाता है।

१४. भत्ते—भोजन, पानी के सम्बन्ध मे भी मर्यादा करे कि मैं आज इतने परिमाण से अधिक न खाऊंगा, न पीऊंगा। ये चौदह नियम देशावकाशिक व्रत के ही अन्तर्गत हैं। इन नियमो से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी गई है उसका सकोच होता है और श्रावकपना भी सुशोभित होता है।

कई लोग इन चौदह नियमो के साथ असि, मसि और कृषि इन तीन को और मिलाते हैं। ये तीनो कार्य आजीविका के लिए किये जाते हैं। आजीविका के लिए जो कार्य किये जाते हैं, उनमे से पन्द्रह कर्मादान का तो श्रावक को त्याग होता ही है, शेष जो कार्य रहते हैं, उनके विषय मे भी प्रतिदिन मर्यादा करे।

१ असि—शस्त्र, औजारादि के द्वारा परिश्रम करके अपनी जीविका की जाय, उसे 'असि' कर्म कहा जाता है।

२ मसि—कलम, दावात कागज के द्वारा लेख या गणितकला का उपयोग किया जाय, उसे 'मसि' कर्म कहा जाता है ।

३. कृषि—खेती के द्वारा या उन पदार्थों का क्रय-विक्रय करके आजीविका की जाय उसको 'कृषि' कर्म कहा जाता है । उपर्युक्त तीनो विषयो मे श्रावकोचित्त कार्य की मर्यादा रख कर शेष का त्याग करे ।



देशावकाशिक व्रत की दूसरी व्याख्या

जिस प्रकार नियमों का चिन्तन करके और प्रत्येक नियम के विषय मे मर्यादा करके स्वीकृत व्रतों में जो मर्यादा रखी गई है, उसको द्रव्य और क्षेत्र से संकोच किया जाता है, उसी प्रकार पाच अणुव्रतो मे काल की मर्यादा नियत करके एक दिन-रात के लिए आस्रव सेवन का त्याग करना भी देशावकाशिक व्रत है। इस तरह के त्याग को वर्तमान समय मे दया या छः काया कहा जाता है। दया या छः काया करने के लिए, आस्रव द्वार के सेवन का एक दिन-रात के वास्ते त्याग करके विरतिपूर्वक धर्म-स्थान मे रहा जाता है। ऐसी विरति, त्यागपूर्ण जीवन विताने के लिए अभ्यास रूप है। दया या छः काया रूप व्रत उपवास करके भी किया जा सकता है और उपवास करने की शक्ति न हो तो आयम्बिल आदि करके भी किया जा सकता है। रसहीन भोजन न किया जा सके तो एकाशना करके भी किया जा सकता है। कारणवश ऐसा कोई तप न हो सके तो एक से अधिक बार भोजन करके भी किया जा सकता

है ।* लेकिन दया वा छ काया व्रत करके जितना भी तप और त्यागपूर्वक रहा जावे, उतना ही अच्छा है ।

दया या छ: काय-व्रत स्वीकार करने के लिए किये जाने वाले प्रत्याख्यान, जितने करण और योग से चाहे, उतने करण व योग से कर सकते हैं । कोई दो करण तीन योग से पाच आस्रव द्वार के सेवन करने का त्याग करते हैं । यानी यह प्रतिज्ञा करते है कि मैं मन, वचन और काय से पांच आस्रव द्वारो का सेवन न करूंगा, न दूसरे से कराऊंगा । इस तरह की प्रतिज्ञा करने वाला व्यक्ति, प्रतिज्ञा करने के पश्चात् जितने समय तक के लिए प्रतिज्ञा ली है उतने समय तक, न तो स्वय ही व्यापार, कृषि या दूसरे आरम्भ, समारम्भ के कार्य कर सकता है, न अन्य से कह कर ही करवा सकता है । लेकिन इस तरह की प्रतिज्ञा करने वाले के लिए जो वस्तु बनी है, उस वस्तु का उपयोग

---

* कई लोग दया या छः काया करके भी रसनेन्द्रिय पर संयम नहीं रखते हैं, किन्तु उस दिन विशेष सरस और पौष्टिक भोजन करते हैं । अन्य दिनो की अपेक्षा जिस दिन दया या छः काया व्रत किया जाता है, उस दिन विशेष स्वादिष्ट एवं इन्द्रियो को उत्तेजित करने वाला पौष्टिक आहार करते हैं, बल्कि कई लोग तो इस व्रत का उद्देश्य न जानने के कारण, श्रेष्ठतम भोजन करने पर ही दया या छः काया का होना मानते हैं । इस कारण बहुत से लोगो की दृष्टि मे दया या छ काया व्रत उपहास का कारण बन गया है । ऐसे लोग कहने लगते हैं कि दया या छः काया का व्रत तो उत्तम भोजन करने के लिए ही किया जाता

करने से प्रतिज्ञा नहीं टूटती है। इस व्रत को एक करण तीन योग से भी स्वीकार किया जा सकता है। जो व्यक्ति एक करण तीन योग से यह व्रत स्वीकार करता है और आस्रव द्वार के सेवन का त्याग करता है, वह स्वयं तो आरम्भ, समारम्भ के कार्य नही कर सकता लेकिन यदि दूसरे से कह कर आरम्भ, समारम्भ के काम कराता है तो ऐसा करने से उसका त्याग भंग नही होता क्योकि उसने दूसरे से द्वारा आरम्भ, समारम्भ, कराने का त्याग नही किया है।

इसी तरह इस व्रत को स्वीकार करने के लिए जो प्रत्याख्यान किए जाते हैं, वे एक करण और एक योग से भी हो सकते हैं। ऐसे प्रत्याख्यान करने वाला व्यक्ति, केवल

है। यद्यपि दया छ काया करने वाले को रसनेन्द्रिय वश मे रखनी चाहिए। लेकिन जिनसे ऐसा नही होता है या जो ऐसा नहीं करते हैं, उन लोगों की निन्दा करके रह जाना और स्वय कुछ न करना, यह बडी भारी भूल है। जो लोग स्वयं कुछ न करके भी करने वाले की निन्दा करते हैं, उनके लिए उचित तो यह है कि वे अपनी अशक्तता को समझ कर जो लोग दया व्रत करते हैं, उनकी सराहना करे, किन्तु इसके बदले किसी भी रूप मे दया करने वाले की निन्दा करके और कर्म बाधते हैं। इसलिए कोई किसी भी रूप मे दयाव्रत करे, उसकी निन्दा करना अनुचित है। इसी प्रकार दयाव्रत करने वाले लोग भी यदि रसनेन्द्रिय पर सयम रखे तो किसी को इस व्रत की निन्दा करने का अवसर ही न मिले और यह व्रत आदर्श माना जावे।

शरीर से ही आरम्भ, समारम्भ के कार्य नहीं कर सकता। मन और वचन के सम्वन्ध में तो उसने त्याग ही नही किया है, न कराने या अनुमोदन का ही त्याग किया है।

कई लोगो को यह भी पता नही होता कि हमने किस प्रकार के त्याग द्वारा दया या छः काया व्रत स्वीकार किया है। ऐसे लोग व्रत के लिए किए जाने वाले प्रत्याख्यान के भेदो को नही जानते और ऐसे लोगों को त्याग कराने वाले नीची श्रेणी का ही त्याग कराते हैं। ये त्याग वहुत ही अल्प हैं, इनमें आश्रवों को बहुत कम अंश मे त्यागा जाता है और अधिकांश प्रत्याख्यान नही होते।

ऐसा होते हुए भी, ऐसे लोगों की वृत्ति की तुलना मुनियो की वृत्ति से की जाती है, जो असगत है। यदि इस सम्वन्ध मे विवेक से काम लिया जावे तो किसी को इस व्रत के विपय मे कोई आक्षेप करने का अवसर न मिले।

दया व्रत भी एक प्रकार का पौषध व्रत ही है। पौपध उसे कहते हैं, जिसके द्वारा धर्म का पोषण किया जावे। पौपध की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि—

पोसं-पुष्टि प्रक्रमाद् धर्मस्य धत्तो करोतीति पौपधः।

अथवा

पोसेइ कुसल धम्मे, जंता हारादि चागऽणुट्ठाण।
इह पोसहोत्ति भण्णति, विहिणा जिणभासिएणेय।।

अर्थात्—प्राणातिपात विरमण आदि के शुभ आचरणो द्वारा धर्म को पोषण देना पौषध है।

पूर्वकाल मे इस तरह के पौषध होने का प्रमाण श्री भगवती सूत्र के १२वे शतक के प्रथम उद्देशक मे शंखजी और पोखलीजी श्रावक के अधिकार मे पाया जाता है, जिनने आहार करके पक्खी पौषध किया था। इस पौषध को करने के लिए, पाच आश्रव द्वार के सेवन का त्याग करके सामायिकादि मे समय लगाना चाहिए। यह व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक को, व्रत के दिन किस प्रकार की चर्य्या रखनी चाहिए, यह संक्षेप मे बताया जाता है-

श्रावक को जिस दिन पौषध (दया या छ काया) करना है, उस दिन समस्त सावद्य व्यापार त्याग कर, पौषध करने योग्य धर्मोपकरण लेकर पौषधशाला अथवा जहां साधु-महात्मा विराजते हो* उस स्थान पर उपस्थित होना चाहिए। पश्चात् साधुजी महाराज को वन्दन-नमन करके अपने शरीर और वस्त्रो का प्रतिलेखन करे तथा उच्चार प्रस्रवण आदि परठने योग्य चीजो को परठने की भूमि का परिमार्जन करे। फिर ईर्यापथिकी क्रिया के पाठ से, उस क्रिया से निवृत्त होकर गुरु महाराज या बड़े श्रावक और जब अकेला ही हो तब स्वतः गुरु महाराज की आज्ञा लेकर पौषध व्रत (दया या छ काया) स्वीकार करे तथा सामायिक व्रत लेकर स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान आदि से धर्म का पुष्ट अवलम्बन ग्रहण करे। ऐसा कोई कार्य न करे कि जिससे व्रत मे बाधा पहुचे। यदि स्वाध्याय करने की योग्यता न हो तो नमस्कार मन्त्र का जाप करे और गुरु

---

* श्राविका को अपनी पौषधशाला या महासतियो के स्थान मे उपस्थित होना चाहिए।

महाराज उपदेश सुनाते हों तो उपदेश श्रवण करे। पश्चात् सामायिकादि पार कर आहार करने के लिए जावे। आहार करने के लिए जाने के समय, पौषधशाला से निकलते हुए 'आवस्सही आवस्सही' कहे और मार्ग में यतनापूर्वक ईर्या-शोधन करता हुआ चले। भोजन करने के स्थान पर पहुचकर 'इर्यापथिक कायोत्सर्ग करे। फिर भोजन करने के पात्र का प्रति-लेखन करके आहार करने बैठे। उस समय यह भावना करे कि 'मुझे आहार तो करना ही पड़ेगा, लेकिन आहार करके कोई विशेष निपजाऊं'। वे पुरुष धन्य हैं, जो आहार त्याग कर अथवा आयम्बिल करके या निवी करके पौषध करते है। मुझ मे ऐसी क्षमता नही है, इसीसे मैं इस प्रकार का आहार करना हूँ। इस प्रकार त्यागवृत्ति वाले लोगो की प्रशंसा करता हुआ आहार करे, जो नीचे बताई गई विधि से हो—

असुरसुर अवचव अद्दुअमविल विय अपरिसाडि।
मण वय काय गुत्तो, भुंजइ साहुव्व उवउत्तो॥

अर्थात्—भोजन करते समय सुड़सुडाट न करे, न चप चपाट करे। इसी तरह न बहुत जल्दी भोजन करे, न बहुत धीरे। भोज्य पदार्थ नीचे न गिरने दे, किन्तु मन, वचन, काय को गोप कर साधु की तरह उपयोग सहित आहार करे।

इस विधि से भोजन करे और वह भी परिमित। लिए कहा है कि 'जाया मायाए भुच्चा।' यानि जिससे ..र जितने आहार से जीवन यात्रा निभ सके, क्षुधा मिट जावे, आलस्य न हो, प्रकृति सात्विक और शरीर स्वस्थ रहे वैसा और उतना ही परिमित आहार करे।

आहार करके प्रासुक जल से तृषा मिटावे और हाथ, मुंह स्वच्छ करे। फिर नमस्कार मन्त्र का उच्चारण करके उठे, तथा तिविहार या चौविहार का प्रत्याख्यान करके जिस स्थान पर पौषध किया है, उसी स्थान पर उपस्थित होकर सामायिकादि धर्मकार्य मे लग जावे।

आहार करने पर निहार भी करना अनिवार्य होता है। इसलिए पौषध में निहार-उच्चार-प्रस्रवण आदि परठने की आवश्यकता हो, तब 'आवस्सही आवस्सही' कह कर साधु की तरह ईर्या शोधता हुआ और यदि रात हो तो पूंजता हुआ स्थंडिल भूमि पर जावे। वहां भूमि का परि-मार्जन या प्रतिलेखन करके, शक्रेन्द्र महाराज की आज्ञा माग कर परठे। परठने के पश्चात् प्राशुक जलादि से सुद्धि* करके तीन वार 'वोसिरे-वोसिरे' कहे और फिर अपने स्थान पर आकर 'निस्सही-निस्सही' कह कर तथा ईर्यावही का कायोत्सर्ग कर ज्ञान, ध्यान मे तल्लीन हो जावे।

पौषध के दिन, दिन के पिछले प्रहर मे पहनने तथा ओढने, बिछाने के वस्त्र और मुखवस्त्रिका रजोहरण आदि का प्रतिलेखन करके, रात मे शयन करने के लिए संथारा जमा ले। दिवस की समाप्ति पर देवसी प्रतिक्रमण करके परमात्मा का गुणानुवाद तथा स्वाध्याय, ज्ञान, ध्यान आदि करे। जब एक प्रहर रात व्यतीत हो जावे, उसके बाद परमात्मा का स्मरण करता हुआ रजोहरण से अपना शरीर एवं संथारे का ऊपरी भाग पूंजे और निद्रा का प्रमाद मिटा

* यह विशेष उच्चार (बडी नीत) के लिए है।

ले । फिर रात के पिछले पहर मे जागृत होकर निद्रा लेने के समय देखे गए कुस्वप्न और दु:स्वप्न के लिए कायोत्सर्ग करके, स्वाध्याय या परमात्मा के भजन में मग्न हो जावे । लेकिन उस समय इस तरह न बोले, जिससे दूसरे की निद्र भंग हो जावे । फिर समय होने पर रायसी प्रतिक्रमण करके सूर्योदय हो जाने पर ओढने विछाने तथा पहनने के वस्त्र एवं मुखवस्त्रिका रजोहरण आदि का प्रतिलेखन करके यह जाने कि सोते समय मेरी असावधानी से किसी जीव की विराधना तो नहीं हुई है । पश्चात् पौपध (दया या छः काया) प्रत्याख्यान पारे ।

यह पांच अणुव्रतो के पालन और पाच आस्रव द्वार के सेवन का त्याग करने रूप पूर्ण दिन–रात के देशावकाशिक व्रत की वात हुई । अव थोड़े समय के लिए पाच आस्रव के सेवन का त्याग करने रूप देशावकाशिक व्रत का स्वरूप वताया जाता है । इस प्रकार के देशावकाशिक व्रत को आधुनिक समय मे 'सवर' कहा जाता है । थोडे समय के देशावकाशिक व्रत यानि संवर के विपय मे कहा गया है कि—

दिग्व्रतं यावज्जीव, सवत्सर चातुर्मासी परिमाण वा ।

देशावकाशिक तु, दिवसप्रहरमुहूर्त्तादि परिमाण ॥

अर्थात्—दिक्व्रत जीवन भर, वर्ष भर या चार मास के लिए स्वीकार किया जाता है किन्तु देशावकाशिक व्रत दिन, प्रहर या मुहूर्त आदि के लिए भी किया जाता है ।

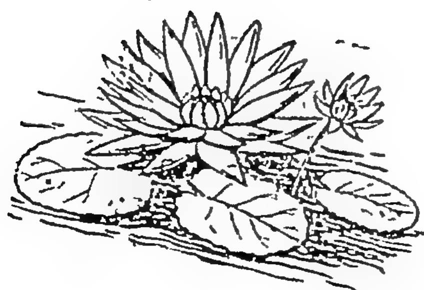
इससे स्पष्ट है कि जो देशावकाशिक व्रत दिन भर यानी चार या आठ पहर के लिए स्वीकार किया जाता है उसको पौषध कहते हैं और जो प्रहर, मुहूर्त आदि थोड़े समय के लिए स्वीकार किया जाता है, उसे संवर कहते हैं।

थोडे समय का देशावकाशिक व्रत यानी संवर जितने भी थोड़े समय के लिए स्वीकार करना चाहे कर सकता है। पूर्वाचार्यों ने सामायिक व्रत का काल कम से कम ४८ मिनिट के एक मुहूर्त्त का नियत किया है। इससे कम समय के लिए यदि पांच आस्रव का त्याग करना है, तो उस त्याग की गणना सवर नाम के देशावकाशिक व्रत मे ही होगी। जव अवकाशभाव अथवा अन्य कारणों से विधिपूर्वक सामायिक करने का अवसर न हो, तव इच्छानुसार समय के लिए आस्रव से निवृत्त होने के वास्ते संवर किया जा सकता है।

वर्त्तमान ममय में देशावकाशिक व्रत चौविहार उपवास न करके कई लोग प्रासुक पानी का उपयोग करते हैं और इस प्रकार से किये गये देशावकाशिक व्रत को भी पौषध कहते हैं। परन्तु वास्तव मे इस तरह का पोपध, देशावकाशिक व्रत ही है। पौषध ग्यारहवें व्रत मे होता है, वैसे ही दशवे व्रत मे भी हो सकता है। ग्यारहवें व्रत का पौषध तव होता है, जव चारो प्रकार के आहार का पूर्णतया त्याग कर दिया जावे और चारों प्रकार के पौषध को पूरी तरह अपनाया जावे। जो इस तरह नहीं किया जाता है, किन्तु सामान्य रूप में किया जाता है, उसकी गणना दशवें व्रत के पौषध यानी देशावकाशिक व्रत मे है। इसके अनुसार तप

करके पानी का उपयोग करने अथवा शरीर में लगाने, मलने रूप तेल का उपयोग करने पर भी उपवास मे दशवे व्रत का ही पौषध हो सकता है, ग्यारहवें व्रत का पौषध नही हो सकता ।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार पौषध के अनेक भेद हैं । जिसमे चारो आहार का त्याग और चारो प्रकार के पौषध का पालन किया जाता है, वह ग्यारहवे व्रत का पौषध है । शेष पौषध दशवें व्रत के पौषध मे ही हैं । दशवे व्रत का पौषध तपपूर्वक भी किया जा सकता है और आहार करके भी । इसलिए यदि श्रावक चाहे और विवेक से काम ले तो वह प्रत्येक समय दशवां व्रत निपजा सकता है ।



देशावकाशिक व्रत के अतिचार

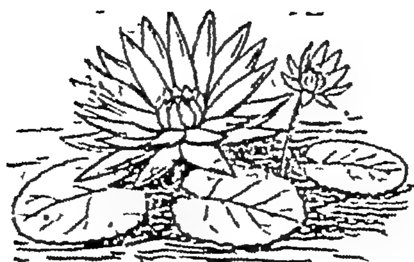
देशावकाशिक व्रत की रक्षा के लिए ज्ञानी महापुरुषों ने व्रत को दूषित करने वाले कामों की गणना अतिचार में करके, उन कामों यानी अतिचारों से बचते रहने के लिए सावधान किया है। देशावकाशिक व्रत के पांच अतिचार हैं, जो इस प्रकार हैं—आनयनप्रयोग प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, बाह्यपुद्गलप्रक्षेप। इन अतिचारों की व्याख्या नीचे की जाती है—

१ आनयनप्रयोग—दिशाओं का संकोच करने के पश्चात् आवश्यकता उत्पन्न होने पर मर्यादित भूमि से बाहर रहे हुए सचित्तादि पदार्थ किसी को भेज कर मंगवाना अथवा किसी को भेज कर मर्यादित क्षेत्र से बाहर के समाचार मंगवाना।

इस विषय में टीकाकारों ने बहुत कुछ लिखा है। उनका कथन है कि यदि श्रावक स्वयं काम करे तो वह विवेक से काम ले सकता है और चिकने कर्म का बन्ध टाल सकता है, लेकिन दूसरे के द्वारा काम कराने पर श्रावक उस लाभ से वंचित ही रहता है।

करके पानी का उपयोग करने अथवा शरीर में लगाने, मलने रूप तेल का उपयोग करने पर भी उपवास में दशवें व्रत का ही पौषध हो सकता है, ग्यारहवें व्रत का पौषध नहीं हो सकता ।

तात्पर्य यह है कि इस प्रकार पौषध के अनेक भेद हैं । जिसमे चारो आहार का त्याग और चारों प्रकार के पौषध का पालन किया जाता है, वह ग्यारहवें व्रत का पौषध है । शेष पौषध दशवें व्रत के पौषध मे ही हैं । दशवे व्रत का पौषध तपपूर्वक भी किया जा सकता है और आहार करके भी । इसलिए यदि श्रावक चाहे और विवेक से काम ले तो वह प्रत्येक समय दशवा व्रत निपजा सकता है ।



देशावकाशिक व्रत के अतिचार

देशावकाशिक व्रत की रक्षा के लिए ज्ञानी महापुरुषो ने व्रत को दूषित करने वाले कामो की गणना अतिचार मे करके, उन कामो यानी अतिचारो से बचते रहने के लिए सावधान किया है। देशावकाशिक व्रत के पाच अतिचार हैं, जो इस प्रकार हैं—आनयनप्रयोग प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, बाह्यपुद्गलप्रक्षेप। इन अतिचारो की व्याख्या नीचे की जाती है—

१ आनयनप्रयोग— दिशाओ का सकोच करने के पश्चात् आवश्यकता उत्पन्न होने पर मर्यादित भूमि से बाहर रहे हुए सचित्तादि पदार्थ किसी को भेज कर मंगवाना अथवा किसी को भेज कर मर्यादित क्षेत्र से बाहर के समाचार मगवाना।

इस विषय में टीकाकारो ने बहुत कुछ लिखा है। उनका कथन है कि यदि श्रावक स्वय काम करे तो वह विवेक से काम ले सकता है और चिकने कर्म का बन्ध टाल सकता है, लेकिन दूसरे के द्वारा काम कराने पर श्रावक इस लाभ से वंचित ही रहता है।

२ प्रेष्यप्रयोग—दिशाओं की मर्यादा का संकोच करने के पश्चात् प्रयोजनवश मर्यादा से वाहर की भूमि से किसी दूसरे के द्वारा कोई पदार्थ या सन्देश भेजना प्रेष्यप्रयोग नाम का अतिचार है । अपना पाप टालने के उद्देश्य से दूसरो को उसकी इच्छा के विरुद्ध कार्य करने की आज्ञा देना भी प्रेष्य-वण प्रयोग नाम का अतिचार है ।

३ शब्दानुपात—मर्यादा के वाहर की भूमि से सम्व-न्धित कार्य उत्पन्न होने पर मर्यादा की भूमि में रह कर ऐसा टिचकारा या खेंखारा आदि शब्द करना कि जिससे दूसरे लोग शब्द करने वाले का आशय समझ सकें और उसके पास आ जावें या कार्य कर सकें, यह शब्दानुपात नाम का अतिचार है ।

४ रूपानुपात—मर्यादा में रखी हुई भूमिका के वाहर का कोई कार्य उत्पन्न होने पर इस तरह की शारीरिक चेष्टा करना कि जिससे दूसरा व्यक्ति आशय समझ जावे, यानि शारीरिक चेष्टा द्वारा संकेत करना, रूपानुपात नाम का अतिचार है ।

५ वाह्यपुद्गलप्रक्षेप—मर्यादित भूमि के वाहर का कार्य उपस्थित होने पर ढेला, ककर आदि चीजें मर्यादित भूमि के वाहर फेक कर दूसरे को सकेत करना, वाह्यपुद्गलप्रक्षेप नाम का अतिचार है ।

ऊपर वताये गए अतिचारो मे से प्रारम्भ के दो अति-चार, अतिचार की कोटि में तभी तक हैं, जव तक अतिचार मे वताए गए कार्य विना उपयोग से यानी भूल से किये

जावें। इस पर से यह प्रश्न होता है कि जब प्रारम्भ के दोनों अतिचारो में बताये गये कार्यों को करने वाला व्यक्ति व्रत की अपेक्षा रखता है और इसीलिए वह स्वय न जाकर दूसरे को भेज रहा है, तब उसका कार्य भूल से हुआ कैसे कहा जा सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह दशवां व्रत दो करण, तीन योग से भी होता है। इसलिए ऐसा व्रत स्वीकार करने वाला व्यक्ति मर्यादित भूमि के बाहर न तो स्वय ही जा सकता है, न किसी को भेज ही सकता है। ऐसा होते हुए भी अपने लिए मर्यादित भूमि से बाहर न जाने का ध्यान तो रखना, लेकिन दूसरे को न भेजने का ध्यान न रखना, और भेज देना, अतिचार है। यदि दूसरे को न भेजने के नियम का ध्यान होने पर भी इस नियम की उपेक्षा करके दूसरे को मर्यादित भूमि से बाहर भेजा जावे, तब तो अनाचार ही है। शेष तीन अतिचार, व्रत की अपेक्षा रखते हुए भी माया कपट से किए जाते हैं, परन्तु व्रत की अपेक्षा रखी जाती है। इसलिए अतिचार ही है, लेकिन प्रबल अतिचार हैं।

इन अतिचारो को समझ कर व्रतधारी को इनसे बचते रहना चाहिए। इन अतिचारो से बचे रहने पर ही व्रत का पूरी तरह पालन होता है।



(४) अन्त समय में समस्त सांसारिक कार्यों से निवृत्त होकर, संलेखणा संथारा आदि करके शेष जीवन को समाधि प्राप्त करने मे लगा देना, यह चौथा विश्राम-स्थल है ।

इन चारो प्रकार के विश्राम-स्थलो मे से पौषधोपवास गृहस्थ श्रावक के लिए उसी प्रकार का तीसरा विश्राम-स्थल है, जैसा तीसरा विश्राम-स्थल भारवाहक के लिए रात्रि-निवास रूप बताया गया है । पौषधोपवास की व्याख्या करने के लिए शास्त्रकार लिखते हैं—

पौषधे उपवसनं पौषधोपवास· नियम—
विशेषाभिधानं चेदं पौषधोपवास. ।।

अर्थात् - धर्म को पुष्ट करने वाले नियम विशेष धारण करके उपवास सहित पौषधशाला मे रहना पौषधोपवास व्रत है ।

शास्त्रकारो ने पौषधोपवास के चार भेद कहे हैं । वे इस प्रकार हैं—

पोसहोववासे चउव्विहे पन्नत्ते, त जहा-आहारपोसहे,
सरीरपोसहे, बंभचेरपोसहे, अव्वावाहारपोसहे ।

अर्थात्—पौषधोपवास चार प्रकार का होता है । आहार पौषध, शरीर पौषध, ब्रह्मचर्य पौषध और अव्यापार पौषध । इनका स्वरूप इस प्रकार है –

१ आहार पौषध—आहार का त्याग करके धर्म को पोषण देना, आहार पौषध है ।

प्रति दिन आहार करने के कारण शरीर में अनेक प्रकार के विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जिनसे धर्म कार्य में बाधा होती है। साथ ही आहार प्राप्त करने में, पकाने में और खाने, पचाने आदि में भी समय जाता है। उस समय को बचाकर धर्म का पोषण करने में लगाने और आहार करते रहने के कारण उत्पन्न विकारों को शमन करने के लिए समय को उपवासपूर्वक धर्मानुष्ठान मे लगाने का नाम आहार त्याग पौषध है। वह आहार त्याग पौषध दो प्रकार का है, देश से और सर्व से। क्षुधा—वेदनीय का परिषह नही जीत सके, इसलिए क्षुधा-कुक्करी को टुकड़ा फेंकने रूप शरीर को भाडा देने के लिए आयंबिल करना, निवी करना अथवा एकासना बियासना करके धर्म को पोषण देना देश से आहार पौषध है और सम्पूर्ण दिन रात्रि चौविहार उपवास करना सर्व से आहार त्याग पौषध है।

२ शरीर पौषध—स्नान, उबटन, विलेपन, पुष्प, गन्ध, अलंकार, वस्त्र आदि से शरीर को अलंकृत करने का त्याग करके धर्मानुष्ठान मे लगाना, शरीर पौषध है।

शरीर पौषध भी दो प्रकार का होता है। एक तो देश से और दूसरा सर्व से। शरीर—अलंकार के साधनो मे से कुछ त्यागना और कुछ न त्यागना, देश से शरीर पौषध है। जैसे आज मैं उबटन न लगाऊंगा, तेल मर्दन न करूंगा या अमुक कार्य न करूंगा। इस प्रकार अलंकार के कुछ साधनों का त्याग करना, देश से शरीर पौषध है और दिन रात के लिए शरीर-अलंकार के सभी साधनो का सर्वथा त्याग करना, सर्व से शरीर पौषध है।

३ ब्रह्मचर्य पौषध—तीव्र मोह के उदय के कारण वेद-जन्य चेष्टा रूप मैथुन और मैथुनाङ्ग का त्याग करके आत्म-भाव में रमण करना और धर्म का पोषण करना, ब्रह्मचर्य पौषध है ।

ब्रह्मचर्य पौषध के भी दो भेद हैं । एक देश से ब्रह्म-चर्य पौषध और दूसरा सर्व से ब्रह्मचर्य पौषध । अपनी पत्नी के सम्बन्ध में कोई मर्यादा करना देश से ब्रह्मचर्य पौषध है और मैथुन का सर्वथा त्याग करके धर्म का पौषण करना, सर्व से ब्रह्मचर्य पौषध है । इसे (प्रतिपूर्ण पौषध) व्रत की कोटि मे शुमार किया जाता है जिसका त्याग इस प्रकार पाठ बोलकर किया जाता है ।

"ग्यारहवां पडिपुण्ण पोसहवयं, सव्वं असणं पाणं खाइमं साइमं पच्चक्खामि, अवम्भसेवणं पच्चक्खामि, उमुक-मणि-हिरण्ण-सुवण्ण-माला वण्णग विलेवणं पच्चक्खामि सत्थमुसलाई सव्वसावज्ज-जोगं पच्चक्खामि जाव अहो... पज्जुवासामि; दुविहं तिविहेणं न करेमि, न कारवेमि... वयसा, कायसा, तस्स भन्ते पडिक्कमामि, निन्दामि... हामि अप्पाणं वोसिरामि ।"

इस पाठ द्वारा चारों प्रकार ...
की शरीर शुश्रूषा, अब्रह्मचर्य और स...
का पूर्ण अहोरात्र के लिये त्याग ...
कि प्रातःकाल सूर्योदय हो जाने के ...
करने मे जितनी भी देरी हो जावे, ...
... जाने के बाद ...

उसे ही प्रतिपूर्ण पौषध माना जाता है। सम्पूर्ण आठ प्रहर से कम पौषध को प्रतिपूर्ण पौषध में नही लिया जाता है।

यदि कोई सम्पूर्ण आठ प्रहर का स-सामायिक पौषध व्रत नही करके कम समय के लिये पौषध करना चाहे तो वह प्रतिपूर्ण पौषध तो नही कहा जाता, और शास्त्रीय विधि से तो ऐसा नही होता किन्तु ग्यारहवें व्रत मे शुमार किये जाने योग्य पौषध कर सकता है ※ ऐसा व्यवहार है।

※ वर्त्तमान समय मे ग्यारहवें पौषध व्रत के लिए पूरे आठ प्रहर के स्थान पर कम समय का करने की प्रथा भी है। बल्कि किसी-किसी देश मे पौषध व्रत की मर्यादा कम से कम पाच प्रहर की और किसी-किसी देश मे चार प्रहर की भी है। यानि यह प्रथा है कि सूर्यास्त मे पहले पौषध स्वीकार कर लिया जाता है और रात भर पौषध मे रह कर सूर्योदय होने पर पौषध पाल लिया जाता है। इस तरह धारणा और परम्परा के आधार पर अनेक प्रथाए हैं लेकिन कम समय के लिए पौषध करने वाले को भी एक दिन और एक रात के लिए यानि आठ पहर के लिए चारो प्रकार का आहार, अब्रह्मचर्य, शरीर-अलकार और आजीविका सम्बन्धी व्यापार का त्याग तो करना ही चाहिए। परन्तु वर्त्तमान समय मे आठ पहर से कम समय के लिए पौषध करने वालो द्वारा इस नियम का पूरा पालन होता नहीं देखा जाता। सूत्रो मे तो प्रतिपूर्ण पौषध करने वाले के लिए आहारादि के साथ व्यापारादि का त्याग भी आवश्यक बताया गया है। इसलिए जिस प्रकार पानी पीकर उपवास करने वाला या शरीर पर तैलादि मर्दन करने कराने वाला व्यक्ति ग्यारहवां पौषध व्रत नहीं कर सकता, उसी

सर्व सावद्य योग के-त्यागपूर्वक पौषधोपवास व्रत करने वाले का क्या कर्त्तव्य होता है, यह बताने के लिए सुख-विपाक सूत्र में सुवाहुकुमार के वर्णन मे कहा गया है कि—

तए णं सुवाहुकुमारे अन्नया कयाई चाउदस्सट्ठमुदिट्ठ-पुण्णमासिणीसु जेणेव पोसहसाला तेणेव उवागच्छई उवाग-च्छइत्ता पोसहसालं-पमज्जइ, पमज्जित्ता उच्चारपासवण भूमि पडिलेहेइ, पडिलेहित्ता दब्भसथारं संथरइ, संथरइत्ता दब्भसंथारं दुरूहइ, दुरूहइत्ता अट्ठमभत्तं पगिण्हइ, पगिण्हइत्ता पोसहसालाए पोसहिए अट्ठमभत्तं पोसहं पडिजागरमाणे विहरइ ।

अर्थात्—वह सुवाहुकुमार (श्रमणोपासक) किसी समय चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या या पूर्णिमा आदि पर्व दिन में जहा पर अपनी पौषधशाला थी वहां आया । उसने सबसे पहले पौषधशाला को स्वच्छ किया और परिमार्जन करके यह देखा कि कही ऐसे जीव तो नही हैं, जिनके कारण मेरे पौषध व्रत मे कोई बाधा पहुंचे तथा असावधानी मे मेरे से उन जीवो की विराधना हो जावे । फिर उसने ऐसी भूमि-का निरीक्षण और परिमार्जन किया, जिसे परठने की भूमि

प्रकार व्यापार करके भी ग्यारहवां पौषध व्रत नही किया जा सकता । किन्तु इस नियम की ओर लोगो का लक्ष्य कम ही रहता है । ग्यारहवा व्रत, चारो प्रकार के पौषध और सामायिक सहित हो सकता है। सामायिक रहित या चारों प्रकार के पौषध का देश से पालन करने पर ग्यारहवा व्रत नही हो सकता ।

अथवा स्थण्डिल भूमि कहते हैं और शारीरिक धर्म के कारण मल-मूत्र त्याग कर जहा परठा जा सके। फिर पौषधशाला मे दर्भादिक (घास) का सथारा (बिछौना) किया । उस सथारे पर बैठकर उसने अष्टम भक्त यानि तीन दिन के उपवास (तेला) की तपस्या स्वीकार की और वह चारो प्रकार के पौषध सहित समाधिभाव में आत्मा को स्थिर करके विचरने लगा ।

सुबाहुकुमार राजपुत्र था । वह पाच सौ रानियो का पति था, उसके यहां प्रचुर सख्या मे दासी दास थे । यह सब होते हुए भी वह श्रावक था । सुबाहुकुमार केवल नाम का ही श्रावक न था, किन्तु जीव, अजीव के स्वरूप और पुण्य, पाप के फल का जानकार था । इस जानकारी के कारण न तो उसे सुख के समय हर्ष होता था, न दुःख के समय खेद होता था । वह आस्रव, सवर आदि तत्त्वो को भी समझता था, इसलिए यथासम्भव सवर और निर्जरा के कारणों का ही व्यवहार करता था । वह मोक्ष प्राप्ति का इच्छुक था, इससे अष्टमी चतुर्दशी आदि पर्व दिनो मे पौषध किया करता था । वह किस प्रकार पौषध करता था, यह ऊपर बताया ही जा चुका है। वह धर्म से सम्बन्धित कामों को नौकरो से नही कराता था, किन्तु स्वय करता था । इसीलिए उसने स्वयं ही पौषधशाला का परिमार्जन किया। इसी प्रकार धर्म करने के लिए जिस सादगी की आवश्यकता है, वह सादगी भी उसमे थी । इसका प्रमाण है दर्भ का सथारा । जो धार्मिक कार्यो मे इस प्रकार कर्त्तव्यनिष्ठ रहता है और सादगी रखता है, वही धर्म का पालन भी

कर सकता है और वही मोक्ष भी प्राप्त करता है। ऐसे ही व्यक्ति की धार्मिकता का प्रभाव दूसरे लोगों पर भी पड़ता है।

पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् क्या करना चाहिए, यह बात सामायिक व्रत का वर्णन करते हुए बताई जा चुकी है। फिर भी थोड़े मे यहां उन बातो का पुनः वर्णन अप्रासङ्गिक न होगा।

पौषध व्रत स्वीकार करने वाले श्रावक का जीवन, जितने समय के लिए पौषध व्रत स्वीकार किया है उतने समय के लिए साधु जीवन के अनुरूप हो जाता है। इस-लिए पौषध व्रतधारी व्यक्ति को वैसे ही कार्य करना उचित है, जिसे करने से पौषध व्रत स्वीकार करने का उद्देश्य पूर्ण हो। पौषध व्रत-धारी श्रावक को इद्रियो तथा मन पर सयम रखकर, समस्त सासारिक सकल्प विकल्प त्याग देने चाहिए तथा आत्म-चिंतन, तत्त्व-मनन एवं परमात्म-भजन में ही तल्लीन रहना चाहिए। उसको सारा दिन और सारी रात इन्ही कार्यो मे विताना चाहिये। पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् गृह-संसार, आजीविकोपार्जन, खान-पान और शरीर-शुश्रूषा सम्बन्धी चिन्ता तो छूट ही जाती है। इस-लिए पौषध व्रत का अधिक से अधिक समय धर्माराधन मे ही लगाना चाहिए। रात मे भी जितना हो सके उतना धर्म-जागरण करना चाहिए।

पूर्व कालीन श्रावको का जो वर्णन सूत्रो मे है, उससे पाया जाता है कि अमुक श्रावक रात्रि का प्रथम भाग व्यतीत हो जाने पर जब धर्म-जागरण कर रहा था, तब उसके

पास देव आया जिसने श्रावक से अमुक-अमुक बातें कहीं, या श्रावक को अमुक उपसर्ग दिया अथवा उस धर्म-जागरण करते हुए श्रावक ने ऐसी-ऐसी भावना की। इस वर्णन से स्पष्ट है कि देवता लोग धर्म-जागरण करने वाले श्रावक के पास ही आते हैं। किसी सोये हुए श्रावक को देव ने जगाया, ऐसा वर्णन कही भी नही पाया जाता। इसलिए पौषध व्रत-धारी श्रावक को रात के समय अधिक से अधिक धर्म-जागरण करना चाहिए। पंचम गुण स्थान पर स्थित लोगो को शुक्ल ध्यान तो होता ही नही है। आर्त्त, रौद्र और धर्म ये तीन ही ध्यान हो सकते हैं। इनमे से पौषध व्रत-धारी के लिए आर्त्त-ध्यान और रौद्र-ध्यान तो सर्वथा त्याज्य ही है। उसके लिए तो धर्म-ध्यान ही शेष रहता है, जो प्रशस्त भी है। इसलिए पौषध व्रत-धारी श्रावक को पौषध व्रत का समय धर्म-ध्यान मे ही लगाना चाहिए।

शास्त्रकारो ने धर्म-ध्यान के आज्ञा-विचय, अपाय-विचय विपाक-विचय और संस्थान-विचय ये चार भेद बताये है। इन चारो भेदो का स्वरूप इस प्रकार है—

१ आज्ञा-विचय—जैन सिद्धान्त मे वस्तु-स्वरूप का जो वर्णन है, सर्वज्ञ वीतराग भगवान् की आज्ञा को प्रधानता देकर उस वस्तु-स्वरूप का चिन्तन करना, आज्ञा-विचय नाम का धर्म-ध्यान है। यह आज्ञा दो प्रकार की है। एक तो आगम आज्ञा और दूसरी हेतुवाद-आज्ञा। आगम-आज्ञा वह है, जो आप्त वचन द्वारा प्रतिपादित होने पर ही प्रमाण मानी जावे और हेतुवाद आज्ञा वह है, जो अन्य प्रमाणो से भी प्रतिपादित हो।

हों, उनका समाधान करने के लिए गुरु महाराज से पृच्छा करना, पूछना है।

(३) सीखे अर्थात् प्राप्त किये हुए ज्ञान का वार-वार चिन्तन करना और प्राप्त ज्ञान दृढ करना पर्यटना है।

(४) प्राप्त ज्ञान के अर्थ एव भेदोपभेद को जानने के लिए उस पर विचार करना अनुप्रेक्षा है।

धर्म-ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं भी हैं—एकानुप्रेक्षा, अनित्यानुप्रेक्षा, अशरणानुप्रेक्षा और समारानुप्रेक्षा। हृदय मे उत्पन्न विचारधारा अर्थात् भावना को अनुप्रेक्षा कहते हैं। इन चारो अनुप्रेक्षाओं का स्वरूप भी संक्षेप मे बताया जाता है—

१ एकानुप्रेक्षा—आत्मा को समस्त सासारिक संयोगो मे भिन्न तथा अकेला मान कर तत्सम्बन्धी भावना करना, एकानुप्रेक्षा है।

२ अनित्यानुप्रेक्षा—समस्त सासारिक एव पौद्गलिक संयोगों को अनित्य (सदा न रहने वाले) मानकर तत्सम्बन्धी भावना करना, अनित्यानुप्रेक्षा है।

३ अशरणानुप्रेक्षा—समस्त सांसारिक सम्वन्धो के लिए यह मानना कि ये मेरे लिए शरणदाता नही हो सकते और ऐसा मान कर तत्सम्बन्धी भावना करना, अशरणानुप्रेक्षा है।

४ ससारानुप्रेक्षा—ससार के जन्म-मरण के क्रम एवं आवागमन सम्वन्धी विचार करके किसी से स्नेह न रखने की भावना करना संसारानुप्रेक्षा है।

पौषध व्रत-धारी श्रावक को अपना समय धर्मध्यान में ही विताना चाहिए। साथ ही उन दोषो से बचे रहना चाहिए, जिनसे पौषध व्रत दूषित होता है। ऐसे दोषों से बचने के लिए उन दोषो की जानकारी होना आवश्यक है। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं, जो पौषध व्रत स्वीकार करने से पहिले दिन करने पर भी व्रत दूषित होता है और कुछ ऐसे हैं जो पौषधव्रत स्वीकार करने पर किये जाने से व्रत दूषित होता है।

पौषध व्रत के निमित्त से १ सरस आहार करना, २ मैथुन करना ३ केश, नख कटाना, ४ वस्त्र धुलाना, ५ शरीर मण्डन करना और ६ सरलता से न खुल सकने वाले आभूषण पहनना, ये छः दोष पौषध करने से पूर्व के हैं। इनके सिवाय बारह दोष वे हैं, जो पौषध व्रत स्वीकार करने के पश्चात् आचरण में आने पर व्रत दूषित होता है। ये बारह दोष इस प्रकार हैं—

जो व्रत-धारी नही है, उसकी ७ व्यावच (सेवा) करना अथवा उससे व्यावच कराना या ऐसे व्यक्ति को आदर देना, ८ शरीर मे पसीना होने पर शरीर को मल कर मैल उतारना, ९ दिन मे नींद लेना, रात मे एक पहर रात जाने से पहले ही सो जाना अथवा पिछली रात को धर्म-जागरण न करना, १० बिना पूजे शरीर खुजलाना, ११ बिना पूजे परठना, १२ निन्दा या विकथा करना, १३ भय खाना या भय देना, १४ सांसारिक बातचीत या कथा वार्ता करना, १५ स्त्री के अंगोपांग निहारना, १६ खुले मुंह अयत्ना से बोलना १७ कलह करना और १८ किसी सांसारिक नाते से बुलाना। जैसे पौषध व्रत-धारी को काकाजी, मामाजी ससुरजी, सासाजी आदि नाते से न बोलना चाहिये।

ये दोप पौपध व्रत को दूपित करते हैं, इसलिए इन दोपों से बचे रहना चाहिए। साथ ही दृढ सहनशील एवं शान्त रहना चाहिए। कई वार पौपध व्रतधारी को अनेक प्रकार के परिपह एवं उपसर्ग भी होते हैं। यदि उस समय सहनशीलता न रही तो पौपध व्रत भंग हो जाता है। उपासकदशाङ्ग सूत्र मे चुलनीपिता आदि श्रावको का वर्णन है, जिनमें से कई श्रावकों को पौपध व्रत से विचलित करने के लिए देव आया। देव ने उनके सामने अनेक भयंकर दृश्य उपस्थित किये। उनके पुत्रो को लाकर उन्ही के सामने मार डाला और मृत शरीर के टुकड़े तेल के कड़ाह में डाल कर पुत्रो का रुधिर मांस व्रत मे वैठे हुए पिता (श्रावक) के शरीर पर छीटा। जव यह सव करने पर भी वे श्रावक अविचल रहे, तव किसी की माता को मारने का कहा, किसी की पत्नी को मारने का भय दिखाया, किसी को रोग का भय दिखाया और किसी को धन-हरण का। इस तरह के सीमातीत भयकर दृश्यो को देखकर व सुनकर उन व्रत-धारी श्रावको की सहनशीलता कायम न रही। वे उस देव को पकड़ने के लिए उठे, लेकिन उनके हाथ वह देव न आया किन्तु खम्भा आया। उस खम्भे को पकड कर उन श्रावको ने जोर से हल्ला किया।

इस तरह के वर्णन देकर शास्त्रकार उन श्रावको के लिए 'भग्गवए' 'भग्गनियमे, 'भग्गपोसहे' लिखते हैं। यानि यह लिखते हैं कि उन श्रावको का व्रत और पौपध भग हो गया। इस पर से समझ लेना चाहिए कि पौपध व्रत को अभग रखने के लिए श्रावक को कैसा सहनशील रहना चाहिए। जो अपना पौपध व्रत अभग रखना चाहता है, वह

मरणदायक उपसर्ग भी शान्तिपूर्वक सह लेता है और उपसर्ग से विचलित होकर व्रत भग नही करता है । महाराज उदायन पौषध व्रत मे थे । रात के समय एक साधु वेश-धारी ठग ने उनको घोर उपसर्ग दिया अर्थात् उनके प्राण ले लिये । यदि महाराज उदायन चाहते तो हो-हल्ला कर सकते थे और उस दशा मे सम्भव था कि उनके प्राण भी बच जाते अथवा वह ठग पकड़ा भी जाता । लेकिन वे उस स्थिति मे सहनशील ही रहे । इस तरह की क्षमा, सहन-शीलता और दृढता से ही उन्होने तीर्थंकर नाम गोत्र का उपार्जन किया तथा वे अगली चौबीसी मे तीसरे तीर्थंकर भगवान् होंगे ।

अनुकूल परिषह लुभावने होते हैं अतएव उनको जीतना भी अधिक कठिन होता है तथापि प्रतिकूल परिषह की ही तरह अनुकूल परिषह होने पर भी पौषध व्रत-धारी श्रावक को दृढ रहना चाहिए। कैसा भी अनुकूल परिषह हो, विच-लित न होना चाहिए । भगवान् शान्तिनाथ के पूर्व-भवो के वर्णन मे एक जगह कहा गया है कि एक समय महाराजा मेघरथ पौषध मे बैठे हुए थे । उसी समय ईशानकल्प (स्वर्ग) में ईशानेन्द्र महाराज ने अपनी इन्द्रानियों की सभा में, प्रसंगवश, राजा मेघरथ की प्रशंसा करते हुए कहा—पौषध व्रत मे बैठे हुए महाराजा मेघरथ को धार्मिक वृत्ति मे विच-लित करने मे कोई भी समर्थ नही है। यही महाराज भवि-ष्य मे जम्बूद्वीप के भरत क्षेत्र मे शान्तिनाथ के नाम से पंचम चक्रवर्ती और सोलहवें तीर्थंकर होंगे ।

इन्द्र द्वारा की गई महाराजा मेघरथ की प्रशंसा सुन-

कर अन्य इन्द्रानिया तो प्रसन्न हुईं, लेकिन सुरूपा और अतिरूपा नाम की इन्द्रानियो ने महाराजा मेघरथ की धर्म-दृढता की परीक्षा लेने का विचार किया । वे दोनो अप्सराए मर्त्यलोक में वहां आई, जहां महाराजा मेघरथ पौषधशाला मे पौषधव्रत धारण करके ध्यानस्थ थे । उन अप्सराओ ने स्त्रियोचित हाव-भाव एव कामोद्दीपक रागरगों द्वारा महाराजा मेघरथ को विचलित करने का बहुत प्रयत्न किया, परन्तु महाराजा मेघरथ अविचल ही रहे और क्षुब्ध न हुए । जब रात समाप्त हो चली और प्रात.काल होने लगा, तब वे अप्सराए हार मान कर अपनी लीला समेट महाराजा मेघरथ को नमन करके तथा अपने अपराध के लिए क्षमा माग कर अपने स्थान को गईं ।

मतलब यह है कि पौषध व्रतधारी श्रावक को अनुकूल परिषह होने पर भी दृढ ही रहना चाहिए, विचलित न होना चाहिए। चाहे अनुकूल परिषह हो या प्रतिकूल परिषह हो, धैर्यपूर्वक उन्हे सह कर अविचल रहने और उनके प्रतिकार की भावना न करने पर ही पौषध व्रत अभंग रहता है । यदि परिषह के कारण विचलित हो उठा, परिषह के प्रतिकार अथवा परिषह देने वाले को दण्ड देने का प्रयत्न किया या ऐसी भावना की तो उस दशा मे पौषध व्रत भग हो जायेगा । परिषह देने वाले को दण्ड देने की बात तो दूर रही, उसके प्रति कठिन शब्द का प्रयोग करने पर भी व्रत दूपित हो जाता है ।

महाशतक श्रावक जब गृहकार्य त्याग कर, प्रतिमा वहन कर रहे थे, तब तथा सथारा कर चुके थे तब, इस तरह दो बार उनकी पत्नी रेवती शृंगार करके महाशतकजी

को विचलित करने के लिए उनके पास गई। वह महाशतकजी के सामने अनेक प्रकार के हावभाव करने लगी तथा विषय भोग का आमन्त्रण देने लगी। उसने इस तरह बहुत प्रयत्न किया लेकिन वह दृढ़ ही बने रहे। रेवती प्रथम बार तो निराश होकर लौट गई, लेकिन दूसरी बार संथारा मे फिर महाशतकजी के पास जाकर महाशतकजी को विचलित करने का प्रयत्न करने लगी। उस समय महाशतकजी को अवधिज्ञान हो गया था। महाशतकजी ने अवधिज्ञान द्वारा रेवती का भविष्य जानकर आवेश में आ रेवती से कहा कि तू निरर्थक कष्ट क्यों उठाती है। शीघ्र ही तुझे अर्श रोग होगा, जिससे तू आज के सातवें दिन मर कर रत्नप्रभा नाम की प्रथम पृथ्वी मे चौरासी हजार वर्ष की आयु वाले नारकीय जीव के रूप में उत्पन्न होगी। महाशतकजी का यह कथन सुनकर, रेवती भयभीत होकर वहां से चली गई और आर्त-रौद्र ध्यान करती हुई मर कर नरक मे गई।

यद्यपि महाशतकजी ने जो कुछ कहा था, वह सत्य ही था, परन्तु था अप्रिय। इसलिए भगवान् ने महाशतकजी का व्रत दूषित हुआ मानकर गौतम स्वामी द्वारा महाशतकजी को आलोचना, प्रायश्चित्त करने की सूचना दी। महाशतकजी ने भगवान् की सूचना शिरोधार्य की और वैसा ही किया।

मतलब यह है कि पौषध व्रतधारी को अप्रिय एवं कठोर सत्य बात भी न कहनी चाहिए। इसी तरह उन सब मानसिक, वाचिक तथा कायिक कार्यों से बचे रहना चाहिए, जिनसे पौषध व्रत दूषित होता है और वे ही कार्य करने चाहिए जिनके करने से धर्म पुष्ट होता है।

पौषधोपवास व्रत के अतिचार

ग्यारहवें पौषधोपवास का उद्देश्य प्रमादावस्था से आत्मा को निकाल कर अप्रमत्तावस्था मे स्थित होना है। इसलिए इस व्रत मे प्रमाद को किंचित् भी स्थान नही है। थोडा भी प्रमाद करने पर पौपधोपवास व्रत दूपित हो जाता है। पौपधोपवास व्रत किस-किस तरह के प्रमाद से दूषित होता है, यह बताने के लिए भगवान् ने पौपधोपवास व्रत के पाच अतिचार बताये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१ अप्रतिलेखित - दुष्प्रतिलेखितशय्यासंथारा—पौपध के समय काम मे लिये जाने वाले पाट, पाटला, बिछौना, सथारा आदि का प्रतिलेखन न करना, अथवा विधि-पूर्वक प्रतिलेखन न करना, यानि मन लगा कर प्रतिलेखन की विधि से प्रतिलेखन न करना और इस प्रकार के शय्या-संथारा को काम मे लेना, अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित शय्या-संथारा नाम का अतिचार है।

प्रतिलेखन प्रातःकाल भी होना चाहिए और सायकाल भी। रात के समय अन्धेरे मे छोटे जीव नही दिख सकते। इसलिए सायकाल को ही प्रतिलेखन कर लिया जाता है,

जिससे बिछौने आदि मे कोई जीव न रह जाय और उसकी विराधना न हो जाय। रात्रि समाप्त होने के पश्चात् प्रातः-काल बिछौना आदि का प्रतिलेखन यह देखने के लिए किया जाता है कि रात के समय मेरे द्वारा किसी जीव की विराधना तो नहीं हुई है! यदि हुई हो तो उसका प्राय-श्चित्त किया जावे।

२ अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जित शय्यासंथारा—पाट पाटला, बिस्तर आदि का प्रमार्जन न करना, अथवा विधि-रहित प्रमार्जन करना, अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित शय्यासंथारा नाम का दूसरा अतिचार है।

प्रतिलेखन और प्रमार्जन में अन्तर है। इसी से दोनों के विषय मे अलग-अलग अतिचार कहे गये हैं। प्रतिलेखन दृष्टि द्वारा होता है यानि दृष्टि से देख लिया जाता है कि कोई जीव तो नहीं है। लेकिन प्रमार्जन, पूंजनी या रजोहरण द्वारा होता है। दिन के प्रकाश में तो प्रतिलेखन किया जाता है, लेकिन प्रकाश न होने के कारण जब प्रति-लेखन नहीं हो सकता, तब रात्रि आदि मे रजोहरण या पूंजनी द्वारा प्रमार्जन किया जाता है और इस प्रकार यतना की जाती है।

३ अप्रतिलेखितदुष्प्रतिलेखित उच्चारप्रस्रवण भूमि—शरीर-चिन्ता से निवृत्त होने के लिए त्यागे जाने वाले पदार्थों को त्यागने के स्थान का प्रतिलेखन ही न करना या भली भांति प्रतिलेखन न करना, अप्रतिलेखित दुष्प्रतिलेखित उच्चार प्रस्रवण भूमि नाम का अतिचार है।

४ अप्रमार्जितदुष्प्रमार्जितउच्चारप्रस्रवणभूमि — तीसरे अतिचार न मे जिस स्थान का वर्णन किया गया है, उस स्थान का प्रमार्जन न करना या भली भाति प्रमार्जन न करना, अप्रमार्जित दुष्प्रमार्जित उच्चारप्रस्रवण-भूमि नाम का अतिचार है।

५ पोषधोपवास समननुपालन—पौषधोपवास व्रत का सम्यक् प्रकार से उपयोग सहित पालन न करना या सम्यक् रीति से पूरा न करना, पौषधोपवास समननुपालन नाम का अतिचार है ।

इन अतिचारो से बचे रहने पर व्रत निर्दोष रहता है और आत्मा का उत्थान होता है ।



अतिथि-संविभाग व्रत

श्रावक के बारह व्रतो मे से बारहवां और चार शिक्षा व्रतो मे से चौथा व्रत अतिथि-सविभाग है। श्रावक का जीवन कैसा धार्मिक हुआ है, श्रावक होने के पश्चात् जीवन मे क्या विशेषता आई है और पाच अणुव्रतो तथा तीन गुण-व्रतो के पालन का प्रभाव उसके जीवन पर कैसा पडा है आदि बातो को जानने का साधन श्रावक के चार शिक्षा व्रत हैं। चार शिक्षा व्रतो मे से प्रथम के तीन शिक्षाव्रतों का लाभ तो श्रावक को ही मिलता है, लेकिन चौथे अतिथि-संविभाग व्रत का लाभ दूसरे को भी मिलता है। इस व्रत का पालन करने से बाह्य जगत् को यह ज्ञान होता है कि जैन दर्शन कैसा विशाल है और जैन धर्म पालन करने वाले मे विश्वबन्धुत्व की भावना कैसी प्रौढ रहती है।

अतिथि-सविभाग का अर्थ है, अतिथि के लिए विभाग करना जिसके आने का कोई दिन या समय नियत नही है, जो बिना सूचना दिये अनायास आ जाता है, उसे अतिथि कहते हैं। ऐसे अतिथि का सत्कार करने के लिए भोजनादि पदार्थों मे विभाग करना अतिथि-सविभाग है और ऐसा करने की प्रतिज्ञा करने का नाम अतिथि-संविभाग व्रत है।

सूत्रों में इस व्रत को 'अहासंविभाग व्रत' कहा है, जिसकी व्याख्या करते हुए टीकाकार लिखते हैं कि—

यथा सिद्धस्य-स्वार्थं निर्वर्तितस्येत्यर्थ, अशनादिः समिति-संगतत्वेन पश्चात्कर्मादिदोषपरिहारेण विभजनं, साधवे दान-द्वारेण विभागकरण यथा सविभाग ।

अर्थात्—गृहस्थ द्वारा अपने लिए बनाये हुए आहा-रादि मे से जो साधु एषणा समिति सहित पश्चात्कर्म आदि दोषो का परिहार करके अशनादि ग्रहण करते हैं, उनको दान देने के लिए विभाग करना अतिथि-संविभाग व्रत है।

जो महात्मा आत्मज्योति जगाने के लिए सांसारिक खटपट त्याग कर संयम का पालन करते है और सन्तोष वृति को धारण करते हैं, उनको जीवन-निर्वाह के लिए अपने वास्ते तैयार किये हुए आहारादि में से उन श्रमण निर्ग्रन्थो के कल्पानुसार दान देना, अतिथि-संविभाग व्रत है। साधु महात्मा को श्रावक अपने लिए बनाई गई चीजो मे से कौन-कौन सी चीजें दे सकता है और साधुओं को किन-किन चीजो का दान देना श्रावक का कर्त्तव्य है, यह बताने के लिए शास्त्र मे निम्न पाठ आया है: —

कप्पइ मे समणे निग्गन्थे फासुएसणिज्जं असणं पाण खाइमं साइमं वत्थ पडिग्गह कंबल पायपुच्छण पडिहारिय पीढ फलग सिज्जा संथारा ओसह भेसज्जेणं पडिलाभेमणे विहरइ ।

अर्थात्—(श्रावक कहता है) मुझे श्रमण-निर्ग्रन्थो को अधकर्मादि सोलह उद्गमन दोष और अन्य छब्बीस दोष रहित प्रासुक एव एषणिक (उन महात्माओं के लेने योग्य) अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, कम्बल (पात्र, जो शीतादि से

बचने के काम मे आता है,) पादपोछन (जो जीव-रक्षा के लिए पूजने के काम मे आते हैं, वे रजोहरण या पूजनी आदि) पीठ (बैठने के काम मे आने वाले छोटे पाट), (सोने के काम मे आने वाले बड़े लम्बे पाट), शय्या (ठहरने के लिए घर), सथारा (बिछाने के लिए घास आदि), औषध और भेषज ❀ ये चौदह प्रकार के पदार्थ, जो उनके जीवन-निर्वाह मे सहायक हैं, प्रतिलाभित करते हुए विचरना कल्पता है। इन पदार्थों से मुनि महात्माओ को प्रतिलाभित करना श्रावक का कर्त्तव्य है और इस कर्त्तव्य के पालन करने की प्रतिज्ञा करना, इसी का नाम अतिथि-संविभाग व्रत है।

दान के उत्कृष्ट पात्र मुनि महात्माओ को उनके कल्पानुसार प्रासुक एवं एषणिक पदार्थ का दान वही श्रावक दे सकता है, जो स्वय भी ऐसे पदार्थ काम मे लाता है, क्योंकि मुनि महात्मा वही पदार्थ दान मे ले सकते हैं, जो पदार्थ दान मे देने वाले ने अपने लिए या अपने कुटुम्बियो के लिए बनाया हो। इसके विरुद्ध जो पदार्थ मुनि के लिए बनाया गया है अथवा खरीद कर लाया गया है, वह पदार्थ मुनि महात्मा नही लेते, किन्तु उसे दूषित और अग्राह्य मानते हैं। इसलिए जो श्रावक, अतिथि-सविभाग व्रत का पालन करने के लिए मुनि को दान देने की इच्छा रखता है, उसे अपने खान-पान, रहन-सहन आदि के काम मे वैसी ही चीजें लेनी होगी, जिनमे से मुनि महात्माओ को भी

❀ औषध उसे कहते हैं जो एक ही चीज को कूट या पीस कर बनाई गई हो और भेषज उसे कहते हैं जो अनेक चीजों के मिश्रण से बनी हो।

प्रतिलाभित किया जा सके । जो श्रावक ऐसा नही करता है, वह मुनि महात्मा को दान देने का लाभ भी नही ले सकता । उदाहरण के लिए कोई श्रावक अपने खाने पीने मे सचित्त तथा अप्रासुक पदार्थ ही काम मे लेता है, रगीन वहुत महीन अथवा चमकीले वस्त्रो का उपयोग करता है, अथवा कुर्सी, पलग, टेवल आदि ऐसी ही चीजें घर मे रखता है, जो साधु मुनिराज के काम मे नही आ सकती, तो वह श्रावक मुनिराजो को अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य, वस्त्र, पात्र, पाट आदि चीजो से प्रतिलाभित कैसे कर सकता है? श्रावक का दूसरा नाम श्रमणोपासक यानि साधु का उपासक (सेवा करने वाला) है । मुनि महात्मा श्रावको से शरीर सम्बन्धी सेवा तो लेते नही । इसलिए श्रावक, मुनिराजो की सेवा उन चीजो से मुनिराजो को प्रतिलाभित करने के रूप मे ही कर सकता है कि जो चीजे मुनि महात्मा के सयमी जीवन मे सहायक हो सकती है और वे भी मुनि महात्मा के लिए वनाई हुई न हो, किन्तु अपने या अपने कुटुम्वियो के लिए वनाई अथवा खरीदी हुई हो । ऐसी दशा मे जव श्रावक मुनि महात्मा के काम मे आने वाली चीजो का उपयोग ही न करता होगा, तव वह मुनि महात्माओ को ऐसी चीजो से प्रतिलाभित कैसे कर सकेगा? साधु मुनिराजो को प्रतिलाभित करने का लाभ वही व्यक्ति ले सकता है जिसके पास ऐसी चीजे हो ।

आज गृहस्थो की मनोवृत्ति कुछ ऐसी सकुचित हो रही है कि वे जितने कपडे सिलवाने होते हैं, उतने ही के लिए वाजार से कपड़ा खरीद लाते हैं। उनके घर मे विना सिला हुआ कपड़ा मिलना कठिन होता है । इसके लिए आर्थिक

दुरवस्था का बहाना भी असंगत है । क्योंकि आर्थिक दुरवस्था का बहाना तो तब ठीक हो सकता है, जब सिले हुए कपड़े आवश्यकता से अधिक न हों । लेकिन होना यह है कि लोग इतने अधिक सिले हुए कपडे भर रखते हैं, कि जो वर्षों तक रखे रहते हैं, और जिन्हें पहनने का क्रम ही नहीं आता है । इसलिए बिना सिला हुआ कपडा न रहने का कारण आर्थिक दुरावस्था नहीं हो सकता, किन्तु अविवेक ही हो सकता है । जिसमें इस प्रकार का अविवेक है, वह मुनिराजों को प्रतिलाभित कैसे कर सकता है ! यदि श्रावकों में इस विषयक विवेक हो, तो मुनिराजों को ऐसी दुकानों पर वस्तु याचने के लिए क्यों जाना पड़े, जहां सचित्त द्रव्य के संघट्ट की सम्भावना रहती है और दूसरे दोषों की भी सम्भावना रहती है ।

जैन शास्त्रों में धर्म के चार अंग प्रधान कहे गये हैं । जिनमें से दान-धर्म, धर्म की पहली सीढी है। दान के भेदों में भी अभय-दान और सुपात्र-दान को ही श्रेष्ठ कहा गया है । सुपात्र-दान वह है, जिसका द्रव्य भी शुद्ध हो, दाता भी शुद्ध हो और पात्र भी शुद्ध हो । इन तीनों का संयोग मिलने पर महान् लाभ होता है ।

द्रव्य शुद्ध हो, इस कथन का मतलब वस्तु की श्रेष्ठता नहीं है, किन्तु यह मतलब है कि जो द्रव्य आधाकर्मादि १६ दोषों से रहित हो, तथा जो मुनि महात्माओं के तप, संयम का सहायक एवं वर्द्धक हो । ऐसा ही द्रव्य शुद्ध माना जाता है । दाता वह शुद्ध है, जो बिना किसी प्रति-फल की इच्छा अथवा स्वार्थ-भावना के दान देता है तथा जिसके हृदय में

पात्र के प्रति श्रद्धा भक्ति हो। पात्र वह शुद्ध है, जो गृह-प्रपंच को त्याग कर सयम पूर्ण जीवन व्यतीत कर रहा हो और जो संयम का पालन करने के लिए ही दान ले रहा हो। इन तीनो वातो का एकीकरण होने पर ही श्रावक इस वारहवे व्रत का लाभ पाता है। वारहवे व्रत के पाठानुसार तो व्रत की व्याख्या यहा ही पूर्ण हो जाती है परन्तु इस व्रत का उद्देश्य केवल मुनि महात्माओ को ही दान देना नही है, किन्तु श्रावक के जीवन को उदार एव विशाल वनाना भी इस व्रत का उद्देश्य है। जीवन निर्वाह के लिए जो अत्यन्त आवश्यक है उस भोजन मे भी जव श्रावक दूसरे के लिए विभाग करता है तव दूसरी ऐसी कौन-सी वस्तु हो सकती है, जिसमे श्रावक दूसरे का विभाग न करे किन्तु जिसके अभाव मे दूसरे लोग दु.ख पावें और श्रावक उसको अनावश्यक ही भण्डारो के ताले मे वन्द कर रक्खे। श्रावक अपने पास के समस्त पदार्थों मे से दूसरे को भाग दे देता है और पदार्थ पर से ममत्व उतार कर दूसरे की भलाई कर सकता है क्योकि श्रावकपन स्वीकार करने के पश्चात् मनुष्य का जीव नही वदल जाता है। श्रावकपन स्वीकार करने वाले के लिए शास्त्र मे कहा गया है—

समणोवासाए जाए अभिगयजीवाजीवे जाव

पडिलाभेमाणे विरहइ।

अर्थात्—वह श्रमणोपासक अवस्था मे जन्मा है और जीव अजीव का ज्ञाता होकर यावत् प्रतिलाभित करता हुआ विचरता है।

इस पाठ के द्वारा श्रावक को द्विजन्मा कहा गया है। श्रावक का एक जन्म श्रावकपन स्वीकार करने के पहले होता है और दूसरा जन्म श्रावकपन स्वीकार करने के पश्चात् होता है। श्रावक होने से पहिले वह व्यक्ति जिन भोग्योप-भोग्य पदार्थों में आसक्त रहता था, ममत्वपूर्वक जिनका संग्रह करता था और जिनके लिए क्लेश, कंकाश एवं महान् अनर्थ करने के लिए उतारू हो जाता था, वही श्रावक होने के पश्चात् उन्ही पदार्थों को अधिकरण रूप (कर्म बन्ध का कारण) मानता है और उनसे ममत्व घटाता है तथा सचित सामग्री से दूसरे को सुख-सुविधा पहुचाता है। इस प्रकार श्रावकत्व स्वीकार करने के पश्चात् मनुष्य की भावना भी बदल जाती है और कार्य भी बदल जाते हैं। उसकी भावना विशाल हो जाती है। ऐसा होने पर ही श्रावक अपने लिए लगाये गये 'द्विजन्मा' विशेषण को सार्थक कर सकता है। लेकिन यदि श्रावक होने पर भी सांसारिक पदार्थों के प्रति ममत्व बढ़ा हुआ ही रहा, दीन दुःखियों को सुखी बनाने की भावना न आई तो उस दशा मे यह कैसे कहा जा सकता है कि उसका 'द्विजन्मा' विशेषण सार्थक है?

आज के बहुत से श्रावक दूसरे का हित करने और दूसरे का दुःख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की दुहाई देने लगते है, और आरम्भ, समारम्भ से बचने के नाम पर कृपणता एव अनुदारता का व्यवहार करते हैं। लेकिन ऐसा करना बड़ी भूल है। अपने भोग-विलास एवं सुख सुविधा के समय तो आरम्भ, समारम्भ की उपेक्षा करना और दीनों का दुःख मिटाने के समय आरम्भ, समारम्भ की आड़ लेना

कैसे उचित हो सकता है ? श्री भगवती सूत्र के दूसरे शतक के पाचवें उद्देश्य में तुगिया नगरी के श्रावको की ऋद्धि का इस प्रकार वर्णन है:—

अड्ढा, दित्ता, विच्छिण्णविपुलभवणसयणासणजाण-वाहणाइण्णा, वहुधणवहुजायरूवरयसा आओगपा योग सम्प-उत्ता, विच्छड्डिय विपुलभत्तपाणा, वहुदासीदासगोमहिसग-वेलग । प्रभूआ, वहु जणस्स अपरिभूया पभिगयजीवाजीवा जाव उसियफलिहा अभंगदुवारा ।

इस पाठ से स्पष्ट है कि तुंगिया नगरी के श्रावकों के यहा वहुत से दासी-दास एवं पशुओ का पालन होता था, वहुत मा भात, पानी निपजता था और उनकी सहायता से वहुत लोगो की आजीविका चलती थी । इस कारण उनके यहा अधिक आरम्भ, समारम्भ का होना स्वाभाविक ही है । श्रावक होकर भी उनके यहा अधिक समारम्भ होता था। तो क्या वे आरम्भ समारम्भ को नही समझते थे ? क्या आरम्भ-समारम्भ को घटाने विपयक तत्त्व को वे नही मानते थे ? वे इस तत्त्व को न जानते रहे हो, यह सम्भव नही । क्योकि उक्त वर्णन मे आगे चल कर तुंगिया नगरी के श्रावको के लिए कहा गया है कि वे आस्रव, सवर निर्जरा अधिकरण, वन्ध और मोक्ष, इन तत्त्वो मे कुशल थे । ऐसा होते हुए भी, वे दूसरे लोगो का पालन करने के समय आरम्भ, समारम्भ की आड़ नही लेते थे । क्योंकि उनमे उदारता थी, दया थी । आज के लोग शास्त्र मे वर्णित वातो को पूरी तरह समझने के वदले, उनका दुरुपयोग कर डालते हैं । शास्त्रकारो ने इस विपय को स्पष्ट करने के

लिए ही उनकी द्रव्य ऋद्धि व उनके कार्य आदि का विवरण दिया है और साथ ही यह भी बता दिया है कि वे कैसे तत्त्वज्ञ थे। इतना ही नहीं, किन्तु उनकी उदारता का भी परिचय दिया है और यह भी बताया है कि जनहित के समय वे आरम्भ-समारम्भ की आड़ नहीं लिया करते थे।

सारांश यह है कि श्रावक अनुदार या कृपण नहीं होता है, किन्तु वह अपनी वस्तु का लाभ दूसरे लोगों को भी देता है। ज्ञाता सूत्र के आठवें अध्ययन में अरणक श्रावक का वर्णन है। उस वर्णन में कहा गया है कि जब अरणक श्रावक व्यापार के लिए विदेश जाने को तैयार हुआ, तब उसने अपने कुटुम्बियों एवं सजातियों को आमन्त्रित करके प्रीति-भोजन कराया और फिर उनसे स्वीकृति लेकर विदा हुआ। वह अपने साथ बहुत से उन लोगों को भी ले गया था, जो व्यापार करने की इच्छा रखते थे। समुद्र में एक देव ने अरणक को धर्म से विचलित करने के लिए उपसर्ग दिये, लेकिन अरणक अविचल ही रहा। तब वह देव अरणक को दो जोड़े दिव्य कुण्डल के देकर चला गया। अरणक ने उन दिव्य कुण्डलों पर भी ममत्व नहीं किया, किन्तु दूसरे को भेंट कर दिये।

राजप्रश्नीय सूत्र के अनुसार राजा प्रदेशी ने श्रावक होते ही यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं राज्य की आय के चार भाग करूँगा। जिनमें से एक भाग दानशाला में व्यय किया करूँगा, जिससे श्रमण माहण आदि पथिकों को शान्ति मिला करे।

इस तरह के वर्णनों से स्पष्ट है कि श्रावक कृपण

नही होता है, किन्तु उदार होता है । वह दूसरे की भलाई से सम्बन्धित कामों के प्रसंग पर आरम्भ-समारम्भ या दूसरी कोई आड़ लेकर बचने का प्रयत्न नही करता है । बल्कि वह जनहित का भी वैसा ही ध्यान रखता है, जैसा ध्यान अपना या कुटुम्ब के लोगों के हित का रखता है । बल्कि कभी-कभी वह दूसरे की भलाई के लिए अपने आपको भी कष्ट में डाल देता है । ऐसे ही श्रावक धर्म की प्रशसा भी कराते हैं तथा राजा प्रजा मे आदर भी पाते हैं ।

उपासक दशाङ्ग-सूत्र में आनन्द श्रावक का वर्णन करते हुए कहा गया है कि आनन्द श्रावक बहुत से राजा राजेश्वर, तलवर, (कोतवाल) माडम्बी, कौटुम्बी, सेठ, सेनापति, सार्थवाह आदि को कार्य मे, कार्य के कारण मे, मंत्र (सलाह) मे, कुटुम्ब की व्यवस्था मे, गुप्त विचारो मे, रहस्य की बातो मे किसी बात के निश्चय पर आने मे, व्यवहार कुशल था, पूछने लायक था और बार-बार पूछने लायक था । वह उस नगर मे मेढी-प्रमाण, आधार-भूत, आलम्बन-भूत, चक्षु-भूत एव मार्गदर्शक था । यदि आनन्द श्रावक जनहित के कार्यों से आरम्भ-समारम्भ के नाम से या और किसी बहाने से बचा रहता, कृपणता और अनुदारता का व्यवहार करता होता, तो वह इस प्रकार की प्रतिष्ठा कैसे प्राप्त कर सकता था ? किसी मनुष्य का ऐसा प्रभाव तभी हो सकता है और उसे ऐसी प्रतिष्ठा तभी प्राप्त हो सकती है, जब उसमे सत्य के साथ ही उदारता भी हो ।

धर्म में दान सबसे पहला अग है । सूत्रों में भी जहा किसी की ऋद्धि, सम्पदा आदि की प्रीति के कारण का

प्रश्न किया गया है, वहा यह प्रश्न भी किया गया है कि इस व्यक्ति ने पूर्व जन्म मे क्या दिया था ? बल्कि दूसरे कारण के विषय में प्रश्न करने से पहले इसी कारण के विषय मे प्रश्न किया गया है। व्यवहार मे भी वही व्यक्ति प्रतिष्ठित माना जाता है, जो उदार है। कृपण व्यक्ति प्रतिष्ठा प्राप्त नहीं कर सकता, फिर चाहे वह कैसा भी क्यो न हो। उदार व्यक्ति की कीर्ति, उस व्यक्ति के न रहने पर भी अमिट रहती है। बल्कि लोग प्रात काल उन लोगो का स्मरण विशेष रूप से करते हैं जो दान के द्वारा अपनी कीर्ति फैला गये हैं। इस विषय मे पंडित कालीदास द्वारा कहा गया यह श्लोक भी प्रसिद्ध है—

देय भोज ! धन धन सुकृतिभिनो सञ्चयस्तस्यवै,
श्रीकर्णस्य बलेश्च विक्रमपते रद्यापि कीर्ति· स्थिता।
अस्माक मधु दानभोगरहित, नष्ट चिरात् सचित।
निर्वाणादिति नैजपाययुगल, घर्षन्ति यत् मक्षिका ॥

(चाणक्यनीति अध्याय ११ वां)

कहा जाता है कि राजा भोज ने एक मक्खी को पैर घिसते देखकर, कालिदास से प्रश्न किया कि यह मक्खी क्या कहती है ? भोज के इस प्रश्न के उत्तर मे कालिदास ने उक्त श्लोक कहा। इस श्लोक का भावार्थ यह है कि 'हे राजा भोज ! तुम्हारे पास जो धन है वह सुकृत में लगा दो, संचय करके न रखो। कर्ण बलि और विक्रम की निर्मल कीर्ति इस भूतल पर अब तक भी इसी कारण फैली हुई है कि उनने अपने पास का धन सुकृत में लगाया था। मैं

(शहद की मक्खी ने) अपना मधु रूपी द्रव्य न तो किसी को दिया, न स्वय ही खाया । परिणाम यह हुआ कि वह मेरा चिर सचित द्रव्य नष्ट हो गया, यानि लोग लूट कर ले गये । मैं अपनी इस कृपणता के लिए पैर घिसकर पश्चात्ताप करती हूँ । जो लोग मेरी तरह कृपण रहेगे, उन्हे भी इसी प्रकार पश्चात्ताप करना पड़ेगा । क्योकि कृपण का धन दान या भोग मे नही लगता, किन्तु व्यर्थ ही नष्ट हो जाता है ।"

धन किसी न किसी मार्ग से जाता जरूर है । वह एक जगह स्थिर नही रहता । फिर दान देकर उसका सदुपयोग क्यो न कर लिया जावे ? भर्तृहरि ने कहा है—

दान भोगो नाशस्तिस्रो, गतयो भवन्ति वित्तस्य ।
यो न ददाति न भुक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति ।।

अर्थात्—धन की दान भोग और नाश ये तीन गतिया हैं । यानि दान देने से जाता है, भोग मे लगाने से जाता है या नष्ट हो जाता है । जो धन न दान मे दिया जाता है, न भोग मे लगाया जाता है, उसकी तीसरी गति अवश्यभावी है । यानि नष्ट हो जाता है ।

दान और भोग मे न आया हुआ धन जब नष्ट हो हो जाता है तब दान द्वारा उसका सदुपयोग ही क्यो न कर लिया जावे ? क्योकि ऐसा न करने पर धन तो नष्ट हो ही जावेगा, तब पश्चात्ताप के सिवाय और बच पावेगा ही क्या ? इस बात को दृष्टि में रख कर ही, श्रावक के लिए उदारता रखने का उपदेश दिया जाता है । जो श्रावक इस

उपदेश को कार्यान्वित करता है, वह अपने आत्मा का भी कल्याण करता है और संसार में जैन धर्म का महत्त्व भी फैलाता है। लोग समझने लगते हैं कि जैन धर्मानुयायी श्रावक धन के दास नहीं होते, किन्तु धन के स्वामी होते हैं और वे धन का सदुपयोग करते हैं, उनमें कृपणता नहीं होती, किन्तु उदारता होती है।

इस बारहवें व्रत का श्रेष्ठतम आदर्श तो है श्रमण निर्ग्रंथों को उनके कल्पानुसार प्रासुक और एषणिक चौदह प्रकार का आहार देना। जो संसार-व्यवहार और गृहादि को त्याग चुके हैं, जिनको शरीर-रक्षा के लिए आहार एवं वस्त्र तथा संयमपालन के लिए आवश्यक उपकरणों की ही आवश्यकता रहती है, जिसने अन्य सभी आवश्यकताएं निःशेष कर दी हैं। ऐसे महात्माओं को दान देने का फल महान् है। इसलिए श्रावक का प्रयत्न यही रहना चाहिए कि ऐसे उत्कृष्ट पात्र को वह दान दे सके, और ऐसा दान देने के संयोग की प्राप्ति की ही भावना भी रखना चाहिए। लेकिन इस तरह के संयोग विशेषतः उन्हीं लोगों को प्राप्त हो सकते हैं, जिनके द्वार अभंग हैं। यानि दान के लिए किसी भी वास्ते बन्द नहीं है, किन्तु सभी अतिथियों के लिए खुले हैं। ऐसे लोगों को कभी ऐसे महात्माओं को दान देने का भी सुयोग मिल जाता है, जो गृह-संसार के त्यागी हैं और दान के उत्कृष्ट पात्र हैं। इसके विरुद्ध जिसका द्वार अतिथि के लिए बन्द रहता है, उसको ऐसा महान् शुभ संयोग किस प्रकार मिल सकता है!

एक राजा के हाथ में जहरी फोड़ा हो गया था।

वैद्यों ने कहा कि यह फोडा प्राण-घातक है लेकिन यदि यह राजहंस की चोच से फूट जावे, तो उस दशा मे राजा के प्राण वच सकते है ।

वैद्यो द्वारा वताये गये उपाय के विपय मे यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि कैसे तो राजहंस आवे और कैसे वह इस छाले को फोड़े ! इस प्रश्न को हल करने के लिए राजा ने एक मकान वनवाया जिसकी छत मे ऐसा छेद रखा कि राजा का हाथ तो नीचे रहे, लेकिन वह छाला छत के ऊपर निकला रहे । यह करके उसने छत पर पक्षियो के चुगने के लिए अन्न डलवाना प्रारम्भ किया। साथ ही छाले के आस-पास हस के चुगने के लिए मोती भी डलवाने लगा । उस छत पर अन्न चुगने के लिए पक्षी आने लगे तथा पक्षियों को चुगते देखकर हस भी आने लगे । होते-होते उन हंसों के साथ एक दिन राजहस भी आ गया । राजहस मोती चुगने लगा । मोती चुगते हुए राजहस ने राजा के हाथ के छाले को मोती समझ कर उस पर भी चोच मार दी, जिस-से छाला फूट गया और राजा स्वस्थ हो गया ।

यद्यपि उस राजा का उद्देश्य राजहस को वुलाना था, लेकिन राजहस तभी आया, जव दूसरे पक्षी आते थे । यदि राजा ने दूसरे पक्षियो के लिए चुगने का प्रवन्ध न किया होता, तो राजहंस कैसे आ सकता था ! इसी के अनुसार श्रावक का लक्ष्य तो है पच महाव्रतधारी उत्कृष्ट पात्र को दान देना, लेकिन ऐसे महात्माओ को वह अतिथि रूप में अपने यहां तभी पा सकता है और तभी उन्हे दान भी दे सकता है, जव वह सामान्य अतिथि का सत्कार करता रहेगा

और उन्हें दान देता रहेगा। ऐसा करते रहने पर उसे कभी उन महात्माओं को दान देने का भी सुयोग मिल सकता है, जो दान के उत्कृष्ट पात्र हैं और जिन्हें दान देने पर महान् फल प्राप्त हो सकता है। इसलिए श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह सभी अतिथियों का यथाशक्ति सत्कार करे। श्रावक के लिये शास्त्र में यह विशेषण आया है कि उसका अभंग द्वार सदा खुला ही रहता है।

कोई कह सकता है कि 'श्रावक का बारहवां व्रत पंच महा-व्रतधारी मुनिराजो को आहारादि देने से ही निपजता है, इसलिए शास्त्र में उन्ही को दान देने का विधान है। दूसरो को दान देने का विधान नही है, किन्तु निषेध पाया जाता है। उदाहरण के लिए उपासक दशाङ्ग सूत्र मे आनन्द श्रावक के वर्णन मे आया है कि आनन्द श्रावक ने यह प्रतिज्ञा की कि अब मे मुझे अन्य तीर्थों को अन्य तीर्थियो के देवो को और अन्य तीर्थियों द्वारा ग्रहित जैन-साधु-लिंग को वन्दन नमस्कार करना, उनका आदर-सत्कार करना उनके बोले बिना उनसे बोलना और उन्हे अशनादि देना नही कल्पता है। इस वर्णन से अन्य लोगो को दान देना श्रावक के लिए निषिद्ध होना स्पष्ठ ही है।'

इस प्रकार के कथन का समाधान यह है कि श्रावक के लिए धर्म-बुद्धि या गुरु-बुद्धि से यह सब करना निषिद्ध है। क्योंकि धर्म-बुद्धि या गुरु-बुद्धि से अन्यतीर्थी के साथ ऐसा व्यवहार करने पर मिथ्यात्व का पोषण होता है। श्रावक को देखा-देखी अन्य लोग भी अन्य तीर्थिकों के साथ ऐसा व्यवहार कर सकते हैं जिससे मिथ्यात्व की वृद्धि होगी।

इसलिए धर्म बुद्धि या गुरु-बुद्धि से तो श्रावक के लिए पंच महाव्रतधारी महात्माओ के सिवाय दूसरे लोगों को दान देना निषिद्ध ही है लेकिन व्यवहार-बुद्धि, उपकार-बुद्धि या अनुकम्पा की भावना से दान देने का निषेध कही भी नही है, किन्तु विधान है। उदाहरण के लिए उपाशक दशाङ्ग सूत्र में ही सकडाल पुत्र श्रावक के वर्णन में कहा गया है कि गोशालख मखली पुत्र से प्रश्नोत्तर करने के पश्चात् सकडाल पुत्र ने गोशालक को पाट आदि चीजे दी। इस प्रकार धर्म-बुद्धि या गुरु-बुद्धि से तो दूसरे को दान देने का निषेध है, लेकिन व्यवहारादि-बुद्धि से दूसरे को दान देने का श्रावक के लिए निषेध नही है। इसलिए श्रावक का कर्त्तव्य है कि वह सभी अतिथियो को दान देने के लिए अपने घर का द्वार खुला रखे।



अतिथि-संविभाग व्रत के अतिचार

शास्त्रकारो ने इस बारहवें व्रत के पाच अतिचार बताये हैं, जिनमे बचना व्रतधारी श्रावक का कर्त्तव्य है। अतिचारो से बचे रहने पर ही श्रावक का व्रत निर्दोष रह सकता है और अतिचारो का सेवन करने पर व्रत दूषित हो जाता है। इस व्रत के पाच अतिचार इस प्रकार हैं:—

१ सचित्तनिक्षेपण—जो पदार्थ अचित्त होने के कारण मुनि महात्माओ के लेने योग्य हैं, उन अचित्त पदार्थों मे सचित्त पदार्थ मिला देना, अथवा अचित्त पदार्थों के समीप सचित्त पदार्थ डाल देना, सचित्तनिक्षेपण नाम का पहला अतिचार है।

२ सचित्तपरिधान—अचित्त पदार्थ के ऊपर सचित्त पदार्थ ढांक देना, सचित्त परिधान नाम का दूसरा अतिचार है।

३ कालातिक्रम जिस वस्तु के देने का जो समय है, वह समय टाल देना, कालातिक्रम नाम का तीसरा अतिचार है। उदाहरण के लिए किसी देश मे अतिथि को आहार देने का समय दिन का दूसरा प्रहर है। इस समय को टाल

देना, अतिथि को आहार देने के लिए उद्यत न होना, कालातिक्रम नाम का तीसरा अतिचार है ।

४ परोपदेश—वस्तु देनी न पड़े, इस उद्देश्य से अपनी वस्तु को दूसरे की बताना, अथवा दिये गये दान के विषय मे यह संकल्प करना कि इस दान का फल मेरे पिता, माता, भाई आदि को मिले, परोपदेश या परोपद्देश्य नाम का चौथा अतिचार है ।

५—मात्सर्य—दूसरे को दान देते देखकर उसकी प्रतिस्पर्धा करने की भावना रखकर दान देना, यानि यह बताने के लिए कि मैं उससे कम नही हूँ किन्तु बढकर हूँ, दान देना, मात्सर्य नाम पांचवां अतिचार है ।

ये अतिचार, बारहवें व्रत को दूषित करने वाले हैं । इसलिए इन अतिचारो से बचते रहना चाहिए । ये अतिचार जब तक अतिचार के रूप में है, तब तक तो व्रत को दूषित ही करते हैं, लेकिन अनाचार के रूप मे होते ही व्रत नष्ट कर देते हैं । इनके सिवाय कुछ अन्य कार्य भी ऐसे है, जिनसे व्रत भग हो जाता है । वे कार्य इस प्रकार हैं—

दाणन्तराय दोसा न देई दिज्जन्तयं च वारेई ।
दिण्णे व परितप्पई इति किवणता भवे भगी ।।

अर्थात्—पूर्व सचित दानान्तराय कर्म के दोष से ऐसी कृपणता रहती कि स्वयं भी दान नही देता है, दूसरे को भी दान देने से रोकता है और दान देकर दुखी है इस तरह की कृपणता से, अतिथि-संविभाग व्रत भंग हो जाता है ।

अनेक लोग कृपणता के कारण दान भी नही देना चाहते और अपनी कृपणता को छिपाकर उदारता दिखाने एव पात्र तथा अन्य लोगो की दृष्टि में भले रहने के लिए 'नाही भी नही करते, किन्तु अतिचारो मे वर्णित कार्यो का आचरण करने लगते हैं यानि या तो अचित्त पदार्थ मे सचित्त पदार्थ मिला देते हैं या अचित्त पदार्थ पर सचित्त पदार्थ ढाक देते हैं, या भोजनादि का समय टाल देते हैं, अथवा अपनी चीज को दूसरे की बता देते है । ऐसा करके वे कृपण लोग अपनी चीज भी बचा लेना चाहते हैं, और साधु मुनिराजो के समीप भक्त एव उदार भी बने रहना चाहते है । लेकिन ऐसा करना कपट है, अतिचार है और व्रत को दूषित करना है । इसलिए श्रावक को ऐसे कामो से बचना चाहिए ।

इस कथन पर से कोई कह सकता है कि जिसमे दान देने की भावना ही नही है, उस व्यक्ति मे दान देने की भावना से निपजने वाला बारहवा व्रत ही कहा है ! और जब व्रत नही है, तब अतिचार कैसे ? इस कथन का समाधान यह है कि यह व्रत एक तो श्रद्धा रूप होता है, दूसरा प्ररूपणा रूप होता है और तीसरा स्पर्शना रूप होता है । इन तीनो भेदो मे से स्पर्शना रूप व्रत तो सयोग मिलने पर ही होता है, लेकिन श्रद्धा और प्ररूपणा रूप व्रत तो सदा ही बना रह सकता है । मायाचार या कपट से श्रद्धा और प्ररूपणा रूप व्रत भी दूषित हो जाता है । इसलिए अतिचार मे बताये गये कामो से श्रावक को सावधानीपूर्वक दूर रहना चाहिए ।

★★

षट् आवश्यक

षट् आवश्यक

एक कहता है—'अगर ज्ञान हमे प्राप्त हो गया है तो क्रिया की क्या आवश्यकता है ?' दूसरा कहता है—'क्रिया ही कल्याणकारिणी है । ज्ञान प्राप्त कर लेने से कोई लाभ नही है ।'

लक्ष्य दोनों का एक है, फिर भी लक्ष्य की उपलब्धि के मार्गों मे समन्वय न होने के कारण दोनों में से एक भी लक्ष्य पर नही पहुंच सकता । ज्ञान और क्रिया दोनों का समन्वय ही दोनो पैरों के समान लक्ष्य तक पहुंचाने मे सहायक होता है । जो ज्ञान क्रिया का निषेध करता है वह ज्ञान नही, अज्ञान है । जो क्रिया अज्ञानपूर्वक की जाती है वह ससार भ्रमण का कारण होती है । दोनो का सम्यक् समन्वय परमार्थ-साधक है ।

न केवल परमार्थ-साधन मे ही, अपितु व्यवहार मे भी ज्ञान और क्रिया-दोनो की आवश्यकता होती है । कोई मनुष्य स्वतंत्रता प्राप्त करना चाहता है, पर केवल स्वतन्त्रता को जान लेने मात्र से वह प्राप्त नहीं हो सकती और न उसे

जाने विना प्रयत्न करने से । ज्ञान और क्रिया दोनों होने पर ही वह प्राप्त हो सकती है । कडकड़ाती भूख लगने पर भोजन के ज्ञान से ही भूख नही मिट सकती, और भोजन का स्वरूप समझे विना भूख मिटेगी ही कैसे ? इस प्रकार प्रत्येक व्यावहारिक सिद्धि के लिए ज्ञान और तदनुकूल क्रिया अनिवार्य रूप से अपेक्षित है । शास्त्र मे कहा है—'पढमं नाणं तओ दया ।' पहले ज्ञान की आवश्यकता है, फिर दया अर्थात् चारित्र या क्रिया सम्भव है । ज्ञानहीन क्रिया अन्धी है और क्रिया-हीन ज्ञान पगु है ।

हत ज्ञान क्रियाहीन हता चाज्ञानिना क्रिया ।

मुख के द्वारा भोजन किया जाता है, यह तो सभी जानते हैं, पर भोजन पथ्य है या अपथ्य, यह जानना भी आवश्यक है । अपथ्य भोजन करने वाले रोगी और परिणामत दुखी देखे जाते है । इन सब बातो से यह स्पष्ट है कि प्रत्येक सिद्धि के लिए, चाहे वह व्यावहारिक हो या पारमार्थिक हो, तुच्छ हो या महान् हो, ज्ञान और क्रिया दोनो अपेक्षित है । जैसे एक चक्र से रथ नही चल सकता, इसी प्रकार अकेले ज्ञान और अकेली क्रिया से कोई सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती ।

ज्ञान-रहित क्रिया बहुत बार हानिकारक सिद्ध होती है । इसी प्रकार क्रिया-रहित ज्ञान तोतारटंत मात्र है । एक आदमी ने तोते को सिखाया कि—'बिल्ली आवे तो उससे बचना चाहिए ।' तोते ने यह शब्द रट लिये । एक बार बिल्ली आई और उसने तोते को अपने निर्दय पंजे मे पकड़

लिया । उस समय भी तोता यही रटता रहा—'बिल्ली आवे तो उससे बचना चाहिए ।' लोग कहने लगे—मूर्ख तोता ! अब कब बिल्ली आयगी और कब तू बचेगा !

आशय यह है कि तोते को ज्ञान होने पर भी क्रिया के अभाव मे वह बच न सका । इस प्रकार क्रियाविहीन ज्ञान निरर्थक होता है ।

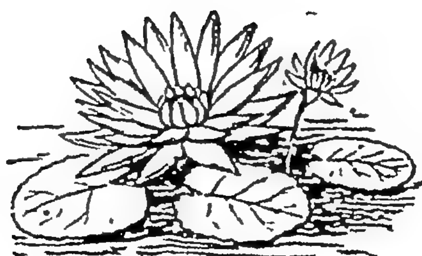
जैन शास्त्रो मे जीवन के उत्थान और आत्मा के शाश्वत कल्याण के लिए अनेक प्रकार से क्रियाओ का विधान किया गया है । अब तक श्रावक के बारह व्रतो पर जो प्रकाश डाला गया है, वह गृहस्थो के लिए क्रिया का ही रूप है । इन व्रतो मे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से श्रावक के योग्य सभी कर्त्तव्यो का समावेश हो जाता है, तथापि एक आवश्यक कर्त्तव्य का जो आवश्यक के ही नाम से प्रसिद्ध भी है, विवेचन शेष रह गया है । उसका समावेश हुए बिना गृहस्थ-धर्म का विवेचन अधूरा ही रहेगा । अतएव उस पर विचार कर लेना उचित होगा ।

जो क्रिया अवश्य करने योग्य है उसे आवश्यक कहते हैं । यह नित्य-क्रिया भी है और नैमित्तिक क्रिया भी है । साधुओं के लिए भी उपयोगी है और श्रावकों के लिए भी उपयोगी है, अतएव अनिवार्य है ।

आवश्यक छह हैं—(१) सामायिक (२) चतुर्विंशति-स्तव (३) वन्दना (४) प्रतिक्रमण (५) कायोत्सर्ग और

(६) प्रत्याख्यान । यहां क्रमशः इन आवश्यकों की व्याख्या की जायगी ।

यद्यपि बारह व्रतो में 'सामायिक' नामक एक पृथक् व्रत है और उस पर विवेचन किया जा चुका है, तथापि सामायिक का महत्त्व इतना अधिक है कि उसे षडावश्यकों मे भी प्रथम स्थान दिया गया है । अतएव आवश्यक-प्रकरण में उस पर पुनः किंचित् विचार कर लेना अनुचित न होगा । सामायिक के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है:—



१-सामायिक

प्रश्न—सामइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?
उत्तर—सामाइएण सावज्जजोगविरइ जणलइ ।

अर्थात्—

प्रश्न—भगवन् ! सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है ?

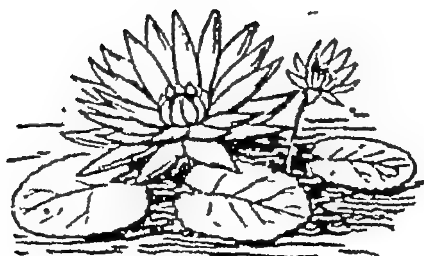
उत्तर—सामायिक करने से सावद्य योग से निवृत्ति होती है ।

यहा सक्षेप मे सामायिक का फल बतलाया गया है । अन्य ग्रन्थो मे इसका बहुत कुछ विस्तार भी पाया जाता है । विशेषावश्यक भाष्य मे सामायिक के विषय मे बारह हजार श्लोक लिखे गये हैं ।

सामायिक समस्त धर्मक्रियाओ का आधार है । जैसे आकाश सभी के लिए आधार भूत है, चाहे कोई गृह बनाकर गृहाकाश कहे या मठ बनाकर मठाकाश कहे, मगर आकाश है सब के लिए आधार भूत, इसी प्रकार सामायिक भी समस्त धार्मिक गुणो का आधार है दूसरे गुण सब आगे

(६) प्रत्याख्यान । यहां क्रमशः इन आवश्यकों की व्याख्या की जायगी ।

यद्यपि बारह व्रतो में 'सामायिक' नामक एक पृथक् व्रत है और उस पर विवेचन किया जा चुका है, तथापि सामायिक का महत्त्व इतना अधिक है कि उसे षडावश्यकों में भी प्रथम स्थान दिया गया है । अतएव आवश्यक-प्रकरण मे उस पर पुनः किंचित् विचार कर लेना अनुचित न होगा । सामायिक के सम्बन्ध में प्रश्न किया गया है:—



१-सामायिक

प्रश्न—सामइएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—सामाइएणं सावज्जजोगविरइं जणलइ ।

अर्थात्—

प्रश्न—भगवन् ! सामायिक से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—सामायिक करने से सावद्य योग से निवृत्ति होती है ।

यहा सक्षेप मे सामायिक का फल बतलाया गया है । अन्य ग्रन्थो मे इसका बहुत कुछ विस्तार भी पाया जाता है । विशेषावश्यक भाष्य मे सामायिक के विषय मे बारह हजार श्लोक लिखे गये हैं ।

सामायिक समस्त धर्मक्रियाओ का आधार है । जैसे आकाश सभी के लिए आधार भूत है, चाहे कोई गृह बनाकर गृहाकाश कहे या मठ बनाकर मठाकाश कहे, मगर आकाश है सब के लिए आधार भूत, इसी प्रकार सामायिक भी समस्त धार्मिक गुणो का आधार है दूसरे गुण सब आधे

है। आधार के विना आधेय टिक नहीं सकता। इस नियम के अनुसार सामायिक के अभाव मे अन्य गुण भी नही टिक सकते । जैसे पृथ्वी के आधार विना कोई वस्तु नही टिक सकती और आकाश के आधार विना पृथ्वी नही टिक सकती, इसी प्रकार सामायिक का आश्रय पाये विना दूसरे गुण नही टिकते।

'सम' और 'आय' इन दो शब्दो के सयोग 'सामायिक' शब्द बना है। अर्थात् समभाव का आना ही सामायिक है। अपनी आत्मा जिस दृष्टि से देखी जाती है उसी दृष्टि से दूसरो की आत्मा को देखना समभाव कहलाता है। इस प्रकार का समभाव एकदम नही आ सकता, लेकिन अभ्यास करते रहने से जीवन मे समभाव का आना कठिन भी नही है।

कहा जा सकता है कि—'ऐसा समभाव लेकर वैठे तो पेट भी नही भर सकता और आखिर भूखो मर कर प्राण गवाने पडेंगे। ससार-व्यवहार चलाने के लिए छल-कपट करना आवश्यक है और जिसमे जितना वल और साहस हो, उसे उतना ही अधिक छल-कपट करना चाहिए। ऐसा न करके, समभाव को छाती से चिपटा कर वैठ रहे तो जीवन कष्टमय वन जायगा।'

इस कथन के उत्तर मे ज्ञानीजन कहते हैं—समभाव धारण करने से जीवन कष्टमय वनता ही नही है। विषभाव से ही कष्टो की सृष्टि होती है। वहुत से लोगो की यह मान्यता है कि 'वलीया के दो भाग' वाली नीति रखने से ही जीवन-व्यवहार ठीक-ठीक चल सकता है। परन्तु

ज्ञानी पुरुषों का कथन इससे विपरीत है। उनके कथनानुसार समभाव धारण करने से ही जीवन-व्यवहार भली-भांति चलता है।

इस प्रकार दोनो प्रकार के लोग अपनी-अपनी मान्यता प्रकट करते हैं। इस कारण प्रकृत विषय मतभेद का विषय बन जाता है। मगर तटस्थभाव से विचार करने पर अन्त मे यही प्रतीत होता है कि ज्ञानी पुरुषो का कथन ही ठीक है।

इस बात का निर्णय करने के लिए आप यह विचार कीजिए कि दुनिया का काम पढे-लिखे लोगो से चल रहा है या अपढ लोगो से ? अगर पढे-लिखे लोगो से ही काम चलता हो तो दुनिया मे पढे-लिखे अधिक हैं या अपढ लोग अधिक है ? और अगर सभी लोग पढ-लिख जाए तो दुनिया का काम ठीक तरह चल सकेगा ? नही, तो क्या पढना बुरी बात है ? दुनिया मे अपढ अधिक हैं और अपढो द्वारा ही दुनिया का काम चलता है, ऐसा विचार करके क्या कोई पढना छोड देता है ? ससार मे गरीबो की सख्या ज्यादा है, इस विचार से क्या कोई अपने पास का पैसा फेंक देता है ? रोगियो की सख्या अधिक जानकर कोई स्वय रोगी बनने की इच्छा करता है ?

ससार मे रोगी भले ही अधिक हो, लेकिन कोई स्वेच्छा से रोगी नही बनना चाहता। कभी रोग उत्पन्न हो जाता है तो उसे मिटाने का प्रयत्न किया जाता है। इसी प्रकार दुनिया मे विषमभाव भी है। मगर विषमभाव सच्चा

इतने समभाव का अभ्यास तो कर ही लेना चाहिए कि जब आप सामायिक में बैठे हों और उस समय कोई आपको गालियां दे तो भी उस पर समभाव रह सके। आपके अन्तः करण मे इतना समभाव आ जाय तो आपको समझना चहिए कि अब हमारा तीर निशाने पर लगने लगा है। इससे विपरीत मुंहपत्ती बांधते बांधते कानों मे निशान पड जाए और सामायिक करते-करते वर्षों व्यतीत हो जाए, फिर भी जब आप सामायिक में बैठें और कोई गाली दे तो आप समभाव न रख सके तो समझना चाहिए कि आपका लक्ष्य कही है और आप तीर कही अन्य जगह मार रहे हैं। यहां तक जो कुछ कहा गया है वह देशविरती सामायिक को लक्ष्य मे रखकर ही कहा गया है। सर्वविरति सामायिक के लिए इससे भी अधिक समझना चाहिए। सर्वविरति सामायिक में पूर्ण समभाव की आवश्यकता रहती है।

सामायिक अथवा समभाव का फल क्या है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा कि सामायिक से समभाव की प्राप्ति होती है और समभाव के सावद्य योग से निवृत्ति होती है। मन, वचन और काय के योग से जो पाप होते हैं, वह सावद्य योग कहलाते हैं। यह सावद्य योग सामायिक से दूर हो जाता है।

सामायिक का फल बतलाते हुए अनुयोगद्वार सूत्र में तथा अन्यत्र भी कहा गया है:—

जस्स सामाणिओ अप्पा, संजमे नियमे तवे।
तस्स सामाइयं होइ, इह केवलिभासियं॥

जो समो सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु य ।
तस्स सामाइअं होइ, इइ केवलिभासियं ॥

इन गाथाओं का आशय यह है कि समभाव से वर्त्तने वाले के ही तप-नियम-संयम आदि सफल होते हैं। समभाव के अभाव मे तप और नियम आदि सफल नहीं होते । तप करना और दूसरों को कष्ट देना, सयम लिया मगर दूसरों पर हुकूमत चलाई, तो यह तप और सयम समभावविहीन है । तप-सयम की सच्ची सफलता समभाव की विद्यमानता में ही है ।

सामायिक की अवस्था में आक्रमणकारी पर भी क्रोध नहीं आना चाहिए । क्रोध न आवे तो समझ लीजिए कि मैं भगवान् के कथनानुसार समभाव का पालन कर रहा हूँ । इसके विरुद्ध अगर क्रोध भड़क उठता है तो ज्ञानी कहते हैं– अभी तुझमें सयम नहीं आया क्योंकि तू समभाव से दूर है । संयम तो समभावपूर्वक ही होता है । समभाव के अभाव में संयम टिक ही नहीं सकता । इस प्रकार सामायिक करते समय रोष भी नहीं करना चाहिए और प्रतिष्ठा मिलने पर अभिमान भी नहीं करना चाहिए । जब कोई नमस्कार करे तो समझना चाहिए कि यह नमस्कार मुझे नहीं, मेरे सम-भाव को है । अतएव मुझे तो समभाव की ही रक्षा करनी चाहिए । अहंभाव समभाव के विरुद्ध है अतएव अहंभाव का तो त्याग करना ही चाहिए । जब मन में अहंभाव आवे तो समझना चाहिए कि अभी तक मुझ में समभाव नहीं आया है ।

कहने का आशय यह है कि प्रत्येक कार्य में सामायिक की आवश्यकता है अर्थात् समभाव रखने की आवश्यकता है। समभाव के विना किसी भी कार्य में और किसी भी स्थान पर शान्ति नही मिल सकती, फिर भले ही वह कार्य राजनीतिक हो या सामाजिक हो। सामायिक होने पर ही सब कार्यों में शान्ति मिल सकती है। जिसमे समभाव होता है उसका हृदय माता के हृदय के समान बन जाता है। सामायिक करने से अर्थात् समभाव धारण करने से जीव को क्या लाभ होता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा ही है कि समभाव धारण करने से अर्थात् सामायिक करने से सावद्य योग दूर हो जाता है। और जिस सामायिक मे सावद्य योग निवृत्त हो जाता है, वही सच्ची और सफल सामायिक है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सामायिक करने से जिस सावद्य योग की निवृत्ति होती है, वह सावद्य योग क्या है? इस सम्बन्ध मे कहा है –

कम्मं सावज्जं जं गरहियं ति कोहाईअ व चत्तारि।
सह तेहि जो होउ जोगो पच्चक्खाणं भवइ तस्स ॥

इस गाथा मे सावद्य योग की व्याख्या की गई है। इसका भावार्थ यह है कि निन्दनीय कार्य सावद्य कहलाता है अथवा क्रोध, मान, माया और लोभ को सावद्य योग कहते हैं, क्योंकि समस्त निन्दनीय कर्म कषाय के अधीन होकर ही किये जाते हैं। निन्दनीय कर्मो का कारण कषाय है, अतः कारण मे कार्य का उपचार करके कषाय भी सावद्य योग

कहा गया है। इस सावद्य के साथ जो व्यापार (प्रवृत्ति) की जाती है, वह सावद्य योग कहलाती है। सावद्य योग का प्रत्याख्यान कहलाता है।

इस गाथा मे आये हुए 'सावज्ज' शब्द का 'सावर्ज्य' भी अर्थ होता है और 'सावद्य' भी। पापयुक्त कार्य सावद्य कहलाता है और गर्हित या निन्दित कार्य 'सावर्ज्य' कहा जाता है।

आर्य की व्याख्या करते हुए एक बार मैंने कहा था-

आरात सकलहेयधर्मेभ्य इति आर्य।

अर्थात्-समस्त हेय धर्मों—पाप कर्मों का त्याग करने वाला आर्य है। जो कार्य आर्य पुरुषो द्वारा त्यागे गये है अथवा उसके द्वारा जो निन्दित है वे सब कार्य सावद्य है। श्रेष्ठ पुरुष कभी निंदित कार्य नही करते। जिन कार्यों से जगत् का कल्याण होता है वह श्रेष्ठ कार्य है और संसार का अहित करने वाले कार्य निन्दित कर्म है। सारा संसार जुआ खेलने लगे तो क्या संसार का अहित नही होगा? ऊपर से तो जुए मे अल्प आरम्भ दिखाई देता है परन्तु वास्तव मे जुआ खेलना दुनिया के लिए अत्यन्त अहितकर है। इसी कारण शास्त्र मे इसे महाप्रमाद कहा है। इसी प्रकार संसार के समस्त मनुष्य अगर चोरी करने लगे तो दुनिया का काम कैसे चल सकता है? क्या उस स्थिति मे संसार दुःखों से व्याप्त नही हो जायगा? इसी कारण ऐसे कृत्य निन्दित माने गये हैं। इसी तरह के और-और कार्य भी सावर्ज्य कार्य है। निंद्य कार्य त्याज्य ही हैं। अतएव

निन्दित कार्यों का त्याग करके अनिन्दित कार्य करोगे तो समभाव की रक्षा होगी और आत्मकल्याण भी हो सकेगा। समभाव की रक्षा करने से सावद्य योग की निवृत्ति अवश्य होती है। अतएव सावद्य योग से निवृत्त होओ और सम-भाव की रक्षा करो। इसी में कल्याण है।

सावद्य योग से निवृत्त होने के लिए आत्मा को किसी आलम्बन की आवश्यकता रहती है। एक वस्तु से निवृत्त होने के लिए दूसरी वस्तु का अवलम्बन लेना जरूरी है। दूसरी का अवलम्बन लिए बिना एक से निवृत्त होना कठिन है। उदाहरणार्थ—आप लोग शाकाहारी हैं इसलिए मांसा-हार से बचे हुए हैं। अगर आपको शाकाहार प्राप्त न होता तो मांसाहार से बचना क्या सम्भव था? इस प्रकार दूसरी वस्तु सामने उपस्थित हुए बिना किसी का त्याग नहीं किया जा सकता। यद्यपि उपदेश तो निराहारी बनने का दिया जाता है परन्तु वह अवस्था सहसा प्राप्त नहीं हो सकती। अतएव सर्वप्रथम मांसाहार से बचना आवश्यक है। मांसाहार से बचने का उपाय यही है कि शाकाहार प्रस्तुत हो। शाका-हार का अवलम्बन लेना भी मांसाहार छोड़ने का और धीरे-धीरे निराहारी बनने का एक मार्ग है। महारम्भी वस्त्र का त्याग करने के लिए अल्पारम्भी वस्त्र का आलम्बन लिया ही जाता है। इसी प्रकार जब सावद्य योग से निवृत्त होना हो तो निरवद्ययोग का अवलम्बन लेना आवश्यक हो जाता है। परमात्मा की प्रार्थना करना निरवद्य कार्य है। यह निरवद्य कार्य सावद्य योग का त्याग करने के लिए आल-म्बनभूत है।

★★

२-चतुर्विंशतिस्तव

प्रश्न—चउव्वीसत्थएणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?
उत्तर—चउव्वीसत्थएणं दंसणविसोहिं जणयइ । ९ ।

अर्थात्

प्रश्न—चौबीस जिनों की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—चतुर्विंशतिस्तव से दर्शनविशुद्धि होती है ।

भगवान् ऋषभदेव से लेकर भगवान् महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थंकरों का स्तवन करना, उनकी प्रार्थना करना या उनकी भक्ति करना चतुर्विंशतिस्तव कहलाता है । चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि चौबीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है ।

तीर्थंकरों के स्तवन के भेद हैं । जैसे-नामस्तवन, स्थापनास्तवन, द्रव्यस्तवन, कालस्तवन, क्षेत्रस्तवन आदि । इन सब भेदों को स्फुट करने के लिए कुछ विवेचन करना आवश्यक है ।

नामस्तवन के भी दो भेद हैं। एक भेद-नामस्तवन, दूसरा अभेद-नामस्तवन। भगवान् ऋषभदेव को ऋषभदेव कहना और भगवान् महावीर को महावीर कहना अभेद-नाम है। इस अभेद नाम का स्तवन करना अभेद-नामस्तवन कहलाता है। किसी एक जीव या एक अजीव अथवा किसी जीवाजीव या अनेक जीवों अथवा अनेक अजीवो को तीर्थंकर का नाम देना भेद नाम कहलाता है। भेद नाम मे और अभेद नाम मे बहुत अन्तर है। अभेद नाम से उसी वस्तु का बोध होता है किन्तु भेद नाम से किसी भी वस्तु को, किसी भी नाम से सबोधन किया जा सकता है। जैसे रुपया को रुपया कहना अभेद नाम है लेकिन बालक का रुपया नाम रख देना भेद नाम है। भेद नाम से भेद जैसा और अभेद नाम से अभेद जैसा कार्य होता है। भेद नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नही होती और अभेद नाम से अर्थक्रिया सिद्ध होती है। थाली मे भोजन के नाम से पत्थर जैसी कोई वस्तु रख दी जाय तो उससे क्षुधा शान्त नही होती, क्योकि वह भोजन अभेद नाम नही वरन् भेद नाम है। भेद नाम वाले भोजन से भूख नही मिट सकती। इस प्रकार के भेद नाम से अर्थक्रिया की सिद्धि नही होती। अर्थ-क्रिया तो अभेद नाम से ही सिद्ध होती है। यह नामस्तवन की बात हुई।

इसी प्रकार तीर्थङ्करो का नाम लिखकर उन नामो में स्थापना की जाय या मूर्ति मे उनकी स्थापना की जाय तो हम उसे भेदनिक्षेप से तो मानते हैं, मगर अभेद निक्षेप से नही। इसी प्रकार इस तरह की नामस्थापना को वन्दना भी नही कर सकते। हम अभेद निक्षेप को ही वन्दन करते

है। भेद निक्षेप को हम स्वीकार तो करते हैं किन्तु अर्थक्रिया की सिद्धि तो अभेदनिक्षेप से ही हो सकती है और इसलिए अभेद को ही नमस्कार करते हैं।

अब द्रव्यतीर्थङ्कर की बात लीजिए। जो चौबीस तीर्थङ्कर हो चुके हैं। वे जब तक केवली नहीं हुए थे, वरन् राजा अवस्था में थे, तब तक द्रव्यतीर्थङ्कर थे। ऐसे द्रव्यतीर्थङ्करों का स्तवन करना द्रव्यस्तवन है। हम द्रव्यतीर्थङ्कर को नमस्कार नहीं करते और न उनका स्तवन ही करते हैं, किन्तु जब उनमें तीर्थङ्कर के योग्य गुण प्रकट हो जाते हैं तभी उन्हें नमस्कार करते हैं और तभी उनका स्तवन करते हैं।

तीर्थङ्करों को किस प्रयोजन से नमस्कार किया जाता है अथवा उनका स्तवन किसलिए किया जाता है, यह बात प्रतिक्रमण में बोली ही जाती है—

लोगस्स उज्जोयगरे, धम्मतित्थयरे जिणे।
अरिहंते कित्तइस्सं, चउवीसं पि केवली॥

अर्थात्—चौबीस तीर्थङ्कर भगवान् लोक में उद्योत करने वाले हैं, मैं उनका स्तवन करता हूँ। ऐसा होने पर भी जब तक प्रकाश नहीं होता तब तक वह वस्तु दिखाई नहीं देती। प्रकाश होने पर ही वस्तु प्रत्यक्ष दिखाई देती है। भगवान् पंचास्तिकाय रूप लोक को प्रकाशित करने वाले हैं। हम लोग भगवान् के ज्ञान-प्रकाश से ही पंचास्तिकाय को जान पाते हैं।

श्रीभगवतीसूत्र में मडूक श्रावक का प्रकरण आता है। उसमें कहा गया है कि मंडूक श्रावक को कालोदधि ने पूछा था—'तुम्हारे भगवान् महावीर पचास्तिकाय का प्रतिपादन करते हैं। उनमें से चार को अरूपी और एक पुद्‌गल को रूपी कहते हैं, लेकिन अरूपी क्या तुम्हे दिखाई देता है ?' मंडूक श्रावक ने इस प्रश्न का उत्तर दिया—'हम अरूपी को नही देख सकते ।

कालोदधि –जिस वस्तु को तुम देख नही सकते, उस पर श्रद्धा करना और उसे मानना कोरा पाखड नही तो क्या है ?'

मंडूक–हे देवानुप्रिय ! तुम्हारे कथन का आशय यह हुआ कि जो वस्तु देखी जा सके उसे ही मानना चाहिए; जो न देखी जा सके, उसे नही मानना चाहिए । किन्तु मैं पूछता हूँ कि पवन, गन्ध और शब्द को तुम आखो से देख सकते हो ? समुद्र के एक किनारे पर खडे होकर दूसरा किनारा देख सकते हो ? अगर नही, तो क्या पवन, गन्ध, शब्द और दूसरे किनारे को नही मानना चाहिए ? तुम्हारा पक्ष तो यही है कि जो वस्तु देखी न जा सके, उसे मानना ही नही चाहिए ।

मंडूक का यह उत्तर सुनकर कालोदधि प्रभावित हुआ । वह सोचने लगा—भगवान् महावीर के गृहस्थ शिष्य इतने कुशल हैं तो स्वयं भगवान कैसे होगे ?

मंडूक श्रावक जब भगवान महावीर के पास आया तब भगवान् ने उससे कहा—'हे मंडूक ! तूने कालोदधि को ऐसा उत्तर दिया था ?'

मंडूक बोला—हां भगवन् ! मैंने यही उत्तर दिया था। मेरे उत्तर को आप अपने ज्ञान से जानते ही हैं।

भगवान् ने कहा—हे मंडूक ! तूने कालोदधि को समीचीन उत्तर दिया था। यदि तुम कहते कि मैं धर्मास्तिकाय देखता हूँ तो तुम अनन्त अरिहन्तों की अवहेलना करते। मगर तुमने जो उत्तर दिया, वह समीचीन है।

लोक-व्यवहार में भी अनुमान को प्रमाण मानना पड़ता है। उसके बिना व्यवहार में भी काम नहीं चल सकता। ऐसी स्थिति मे धर्म के विषय मे अनुमान प्रमाण क्यों न माना जाय ? नदी को देखकर प्रत्येक मनुष्य उसके उद्गम स्थान का अन्दाज लगाता है आप सिर्फ नदी देख रहे हैं, उसका उद्गम-स्थान आपको दिखाई नहीं देता, फिर भी नदी देखने से उसका उद्गम स्थान मानना ही पड़ता है। इसी प्रकार एक भाग को देखने से दूसरा भाग भी मानना पड़ता है। इसी न्याय से सर्वज्ञ और वीतराग भगवान् ने जो कुछ कहा है उसे भी सत्य मानना चाहिए। तीर्थङ्कर भगवान् ने अपने ज्ञान-प्रकाश द्वारा देखकर ही प्रत्येक बात का प्ररूपण किया है, इसी कारण कहा गया है कि जो भगवान् तीन लोक में उद्योत करने वाले हैं, उन्हें मैं नमस्कार करता हूँ। इसी तरह जो अरिहन्त भगवान् धर्म की स्थापना करते हैं, उन्हें भी मैं नमस्कार करता हूँ। ऐसे अरिहन्त भगवान् चौबीस हैं और वे सम्पूर्ण ज्ञान के स्वामी हैं।

चौबीस तीर्थङ्करों का स्तवन तो बहुत से लोग करते हैं, किन्तु स्तवन के गुण भलीभांति समझकर स्तवन किया

जाय तो सब प्रकार की शंकाएं निर्मूल हो जाती हैं। चौवीस तीर्थङ्करों की स्तुति करने का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि चौवीस तीर्थंकरों की स्तुति करने से दर्शन की विशुद्धि होती है। इस कथन का आशय यह है कि चौवीस तीर्थङ्करो का स्तवन करने वाले का सम्यक्त्व इतना निर्मल हो जाता है कि देवता भी उसे सम्यक्त्व से विचलित नही कर सकते। अर्थात् उसका दर्शन अत्यन्त निर्मल और प्रगाढ हो जाता है। दर्शन की विशुद्धि करने के लिए चौवीस तीर्थङ्करों का स्तवन निरन्तर करते रहना चाहिए। कदाचित् स्तवन का फल प्रत्यक्ष या तत्काल दृष्टिगोचर न हो तो भी उसी प्रकार स्तवन करते रहना चाहिए। दवा का फल प्रत्यक्ष दिखाई नही देता, फिर भी वैद्य पर विश्वास करके रोगी उसका सेवन करता रहता है और आगे चलकर दवा अपना गुण प्रकट करती है, इसी प्रकार भगवान् के कथन पर विश्वास रखकर तीर्थङ्करों का स्तवन करते रहोगे तो दर्शन की प्राप्ति अवश्य होगी। मोह और मिथ्यात्व का अवश्य ही विनाश होगा। शास्त्र मे कहा है –

सद्धा परम दुल्लहा।

अर्थात्—श्रद्धा बहुत दुर्लभ है।

यह कथन उस श्रद्धा के विषय मे है, जो श्रद्धा "जीवित" होती है। जैसे मुर्दा मनुष्य किसी का नही समझा जाता, उसी प्रकार मरी हुई श्रद्धा भी किसी काम

की नही होती। अगर किसी मनुष्य में मुर्दापन आता दिखाई देता है तो उसे दवा देकर स्वस्थ किया जाता है। इसी प्रकार अगर आपकी श्रद्धा मे मुर्दापन आ रहा हो तो उसे भी चौवीस जिनो की स्तुति द्वारा जीवित बनाओ। ऐसा करने से श्रद्धा-गुण को प्राप्ति होगी। अतएव चौवीस तीर्थङ्करों की स्तुति करने मे वीरता और धीरता रखो। उदासीनता का त्याग करो।



३-वंदना

प्रश्न—वंदणएण भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वंदणएण नीयागोयं कम्मं खवेइ उच्चागोयं निबंधइ, सोहग्गं च णं अप्पडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ, दाहिणभावं च णं जणयइ ।

अर्थात्

प्रश्न—भगवन् ! वन्दना करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—वन्दना करने से जीव नीचगोत्र कर्म का क्षय करता है, उच्च गोत्र का बंध करता है, सुभग, सुस्वर आदि का बंध करता है, सब उसकी आज्ञा मानते हैं और वह दाक्षिण्य को प्राप्त करता है ।

चौबीस तीर्थङ्करों की प्रार्थना करने के सम्बन्ध में पहले विवेचन किया जा चुका है । जिनकी प्रार्थना की जाती है, जिनका स्तवन किया जाता है, उन तीर्थङ्कर भगवान् को वन्दना-नमस्कार भी करना ही चाहिए । अतः यहां वन्दना के विषय में कहा जायगा । कदाचित् कोई तीर्थंकरों की

प्रार्थना न कर सके परन्तु वन्दना तो सभी कर सकते है। अत. शास्त्र मे वन्दना के फल के विषय मे प्रश्न किया गया है।

'वदि' धातु से वन्दना शब्द बना है । वदन शब्द का अर्थ अभिवादन करना भी होता है । वंदना कब करना चाहिए ? इस प्रश्न के उत्तर मे यह क्रम है कि सर्वप्रथम सामायिक करना चाहिए अर्थात् पहला सामायिक आवश्यक है, तत्पश्चात् चौबीस जिनस्तवन आवश्यक है और फिर वन्दन आवश्यक है । वंदना करने की भी विधि है । वन्दना किस प्रकार करना चाहिए, इस विषय पर शास्त्रकारो ने बहुत प्रकाश डाला है । आज तो वन्दना करने की विधि मे भी न्यूनता नजर आती है, मगर शास्त्रीय वर्णनो से प्रतीत होता है कि प्राचीन काल मे विधिपूर्वक ही वन्दना के फल के सम्बन्ध मे भगवान् से प्रश्न किया गया है । भगवान् ने वन्दना आवश्यक का बहुत फल प्रकट किया है । वंदना के २५ आवश्यक बतलाये गये है । वे पच्चीस आवश्यक क्या हैं, इस विषय मे कहा है -

दुयो णय अहाजायं कीयम्म बारसावस्सय होई ।
चउ सीरं तिगुत्त च, दुप्पवेस एग निक्खमण ॥

वन्दना के पच्चीस आवश्यको का निरूपण इस प्रकार किया गया है—दो बार नमन कीत्तिकर्म अर्थात् वन्दना आवश्यक, एक यथाजात आवश्यक बारह आवर्तन आवश्यक, चार मस्तक नमन के आवश्यक, दो बार गुरु के अविग्रह मे प्रवेश करना आवश्यक और एक बार गुरु के अविग्रह से से निकलना आवश्यक । इन पच्चीस आवश्यको के होने पर ही वन्दना पूर्ण होती है ।

यहां यह देखना है कि इन पच्चीस आवश्यकों का अर्थ क्या है ? साध्वी या अन्य स्त्री गुरु से सत्ताईस हाथ दूर रहे और शिष्य या अन्य पुरुष साढे तीन हाथ दूर रहे, यह गुरु का अविग्रह-क्षेत्र है। अगर स्थान का संकोच न हो तो गुरु से पुरुप या शिष्य साढे तीन हाथ की और साध्वी या स्त्री सत्ताईस हाथ की दूरी पर रहकर, विनीत भाव से, नीची दृष्टि करके, हाथ मे ओघा और मुख पर मुखवस्त्रिका सहित, गुरु को नमस्कार करते हुए 'खमासरणा' का यह पाठ बोलते हैं—

इच्छामि खमासमणो वदिउ।

अर्थात्—हे क्षमाश्रमण ! मैं आपको वन्दन करने की इच्छा करता हूं।

कहा जा सकता है कि जब वन्दन करने की इच्छा है ही तो इस प्रकार कहने की क्या आवश्यकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि इस प्रकार कहनेवाले व्यक्ति को गुरु के अविग्रह मे प्रवेश करना है, अतएव वह गुरु की स्वीकृति चाहता है। अविग्रह के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की अपेक्षा चार भेद है। इन सब का यहां वर्णन न करते हुए सिर्फ इतना कह देना आवश्यक है कि गुरु के क्षेत्र अविग्रह में प्रवेश करना है, इसी हेतु गुरु की स्वीकृति ली जाती है। गुरु को इच्छापूर्वक नमस्कार करना चाहिए। नमस्कार करने में उद्दडता होना उचित नही है और इसी कारण आचार्य के क्षेत्र-अविग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति ली जाती है। अगर आचार्य अविग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति देना

चाहते होंगे तो वे 'छंदेणं अर्थात् जैसी तुम्हारी इच्छा' कहेंगे अगर वे अविग्रह में प्रवेश करने की स्वीकृति नहीं देना चाहते होंगे तो 'तिविहेण' कहेंगे यह कहने का तात्पर्य यह है कि वहीं से मन, वचन और काय से नमस्कार कर लो।

अगर आचार्य 'छंदेणं' कह कर अविग्रह मे प्रवेश करने की स्वीकृति दें तो उस समय बालक के समान अथवा दीक्षा धारण के समय के समान नम्रता धारण करके, हाथ मे ओघा रखकर और मुख पर मुखवस्त्रिका सहित में 'निस्सहि निस्सहि (अर्थात् मैं मन, वचन, काय से सावद्य योग का त्याग करता हूं) कहते हुए अविग्रह मे प्रवेश करना चाहिए और फिर गुरु के चरणो मे निकट पहुंचकर बारह प्रकार का आवर्त्तन करना चाहिए। आवर्त्तन करते समय 'अहोकाय कायसंफासिय' ऐसा बोलते जाना चाहिए। 'अहोकायं काय' इसमे छह अक्षर हैं। उन छह अक्षरो मे से दो दो अक्षरो का एक एक आवर्त्तन होता है। इस प्रकार 'अहोकायं काय' इन छह अक्षरो के तीन आवर्त्तन हुए। 'अहोकायं काय' ऐसा बोलते हुए आवर्त्तन करना और 'संफासियं शब्द का उच्चारण करते समय अपने हाथ और मस्तक द्वारा गुरु के चरणो का स्पर्श करना चाहिए।

'अहोकायं कायसंफासिय' का अर्थ है 'हे गुरु महाराज! आपकी नीची काया अर्थात् चरण को मैं अपनी ऊंची काया अर्थात् मस्तक से स्पर्श करता हूं।'

आवर्त्तन और चरणस्पर्श करने के पश्चात इस प्रकार कहना चाहिए—

'खमणिज्जो भे ! किलामो अप्पकिलताण बहु सुभेण भे दिवसो वइक्कतो ।'

अर्थात् – हे पूज्य ! अपनी ऊंची काया द्वारा आपकी नीची काया का स्पर्श करते समय आपको जो कुछ क्लेश हुआ हो, मेरा वह अपराध क्षमा कीजिए ।

यह कैसी सूचना दी गई है ? इस क्षमायाचना से इस रहस्य का ज्ञान होता है कि जब गुरु के चरणस्पर्श करने मे भी गुरु को कष्ट न पहुचने जैसी सूक्ष्म बात का ध्यान रखा जाता है तो फिर दूसरे प्रकार का कष्ट न होने देने के विषय में कितना ध्यान रखना चाहिए ! जिस घर मे एक कौडी भी वृथा खर्च नही की जाती, उस घर मे रुपया-पैसा वृथा खर्च कैसे किया जा सकता है ? इसी प्रकार जहां चरणस्पर्श करने मे भी कष्ट न पहुचाने का ध्यान रखा जाता है और इतनी सूक्ष्म बात के लिए भी क्षमा-याचना की जाती है, वहां अन्य बातो पर क्यो नही ध्यान दिया जाता होगा ? मगर इसका यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि गुरु को कष्ट होने का विचार करके उनके चरणो का स्पर्श ही न किया जाय ! एक कौडी भी वृथा खर्च न करना ठीक हो सकता है किन्तु आवश्यकता पडने पर भी खर्च न करना कृपणता है । इसी प्रकार गुरु को कष्ट न हो, इस बात का ध्यान रखना तो उचित है मगर उन्हे कष्ट होने के विचार से चरणो का स्पर्श ही न करना अनुचित है । गुरु को कष्ट हो, इस प्रकार से उनके चरणो का स्पर्श करना यद्यपि अनुचित है, फिर भी चरणस्पर्श किया जाता है और ऐसा करने मे किसी अंश में गुरु को कष्ट

पहुंच जाना शक्य और सम्भव है, इसी कारण यह कहा गया है कि—हे गुरु ! आपके चरणों का स्पर्श करने में आपको जो कोई कष्ट हुआ हो, उसके लिए क्षमा कीजिए। आप क्षमासागर हैं, अतः मेरा अपराध भी क्षमा करें।

'अहोकायं कायसफासियं' इन शब्दों का ह्रस्व-दीर्घ रीति से उच्चारण करके चरणस्पर्श करना चाहिए और फिर क्षमायाचना करके गुरु को हाथ जोड़कर, नमस्कार करके इस प्रकार कहना चाहिए:—

बहुसुभेण भे ! दिवसो वइक्कन्तो ? जत्ता भे ! जवणिज्ज च भे !

इस पाठ में देवसी, रायसी, पक्खी, चौमासी या सवत्सरी का जो दिन हो, उसका उच्चारण करना चाहिए। इस पाठ का अर्थ यह है—'हे गुरो ! दिवस, रात्रि पक्खी, चौमासा या संवत्सरी का काल आनन्दपूर्वक व्यतीत हुआ ?' इस प्रकार गुरु से कुशल-प्रश्न पूछना चाहिए। फिर 'जत्ता भे' इतना कहकर पहला आवर्त्तन, 'जवणि' कहकर दूसरा और 'ज्जं च भे' कहकर तीसरा आवर्त्तन करना चाहिए।

इन तीन आवर्त्तनों के समय उच्चारण किये हुए अक्षरों में से 'जत्ता भे' का अर्थ यह है कि—'गुरु महाराज ! मूल गुण और उत्तर गुण रूपी, आपकी संयमयात्रा तो आनन्दपूर्वक चलती है न ? 'जवणिज्जं' का अर्थ यह है कि आप इन्द्रियों का और मन का दमन तो बराबर करते हैं न ? 'ज्जं च भे' का आशय यह कि 'हे गुरु ! आपकी संयमयात्रा, आपके इन्द्रियदमन और आपकी यतना को मैं स्वीकार करता हूँ।'

गुरु को आवर्त्तन करने का उद्देश्य क्या है ? किस हेतु से आवर्त्तन करना चाहिए ? इन प्रश्नों का निर्णय करने के लिए यह विचार करना चाहिए कि वर और कन्या अग्नि की प्रदक्षिणा किसलिए करते हैं ? वर-कन्या जब तक अग्नि की प्रदक्षिणा नही करते तब तक वे कुंवारे समझे जाते हैं । अग्नि की प्रदक्षिणा करने के अनन्तर आर्य बाला प्राणो का उत्सर्ग कर सकती है पर नियम का भग नही करती । स्त्रियां अपनी मर्यादा का इतना ध्यान रखती हैं तो क्या पुरुषो को मर्यादा का पालन नही करना चाहिए ?

जैसे पति-पत्नी अग्नि की प्रदक्षिणा करके एक दूसरे के धर्म को स्वीकार करते हैं उसी प्रकार शिष्य भी आवर्त्तन द्वारा वीरता पूर्वक गुरु का धर्म स्वीकार करता है । गुरु का धर्म स्वीकार करने के पश्चात् वह शिष्य यदि गुरु के धर्म के विरुद्ध प्रवृत्ति न करे तो ही उसका आवर्त्तन और वदन सच्चा समझो ।

कहने का आशय यह है कि गुरु के अविग्रह मे प्रवेश करते समय दो वार मस्तक झुकाना दो आवश्यक हुए । फिर नवदीक्षित के समान नम्र हो जाना यह एक आवश्यक हुआ । तदन्तर बारह आवर्त्तन करना बारह आवश्यक है । इस प्रकार यहा तक पन्द्रह आवश्यक हुए । चार वार मस्तक नमाने के चार आवश्यक हुए, तीन गुप्तियो के तीन आवश्यक, दो आवश्यक प्रवेश करते समय के और एक आवश्यक निकलते समय का । इस तरह सब मिलकर पच्चीस आवश्यक होते हैं ।

तीन गुप्ति का अर्थ यह है कि मन, वचन और काय को एकाग्र करके गुरु को वंदना करनी चाहिए। गुरु को वन्दना करते समय इस प्रकार विचार करना चाहिए कि अनेक जन्म-जन्मान्तर मे भटकने के बाद मुझे जो मन की प्राप्ति हुई है, उसकी सार्थकता गुरु को वन्दन करने से ही हो सकती है। अतएव मन को खराब कामों मे नही पिरोना चाहिए। मान लीजिए, किसी मनुष्य को कीमती मोती मिला हो तो क्या वह मामूली मिठाई के बदले उसे दे देगा? अगर नहीं तो मन अनेक जन्म-जन्मान्तरो के अनन्तर मिला है, उस मन को खराब कामो मे पिरो देना क्या उचित कहा जा सकता है? अनेक विध कठिनाइयां झेलने के बाद जो मन मिला है, उसकी कीमत समझकर और मन को एकाग्र करके गुरु को वंदना की जाय तभी मन का पाना सार्थक कहा जा सकता है। जिस वन्दना का फल यहां तक बतलाया गया है कि बंधा हुआ नीच गोत्र कर्म भी वन्दना से क्षीण हो जाता है और उच्च गोत्र का बंध होता है। उस वन्दना के समय भी यदि मन एकाग्र न हुआ तो फिर किस समय होगा? मगर लोग सत्कार्य मे मन एकाग्र नहीं करते और यही अधोगति का कारण है।

मन एकाग्र करना ही मन की गुप्ति है, फिर वचन से बहुमानपूर्वक श्रेष्ठ सत्कार बोलते हुए गुरु को वन्दना करना वाग्गुप्ति है।

यह सब पच्चीस आवश्यक हुए। इन आवश्यकों की रक्षा करके और वंदना के बत्तीस दोष टालकर गुरु को वंदना की जाती है, वही सच्ची वंदना है।

आज वंदना की यह विधि क्वचित् ही दिखाई देती है, अतएव वदनाविधि जानने का और विधिपूर्वक वदना करने का प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार विधिपूर्वक की जाने वाली थोड़ी भी वंदना अधिक लाभदायक सिद्ध होती है। जिन लोगो ने विधिपूर्वक युद्ध करने की शिक्षा प्राप्त का है, वे सख्या मे थोडे होने पर भी विधिपूर्वक युद्ध करके विजयी होते है और अशिक्षित योद्धा वहुसख्यक होने पर भी हार जाते हैं। इसी प्रकार विधिरहित वहुत वदना की अपेक्षा विधियुक्त अल्प वंदना अधिक फलदायक होती है। इसलिए वदना की विधि सीखने की आवश्यकता है। प्राचीन काल के लोग विधिपूर्वक ही वदना करते थे। आप लोग वदना की विधि सीखकर, विधिपूर्वक वन्दना करेंगे तो आपका कल्याण होगा।

विधिपूर्वक वन्दना करने से क्या फल मिलता है? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया है कि विधिपूर्वक वन्दना करने से जीव नीच गोत्र कर्म का क्षय करके उच्च-गोत्र का वध करता है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय मे यह समझ लेना आवश्यक है कि उच्चगोत्र किसे कहते हैं और नीचगोत्र कर्म क्या है? आजकल नीचगोत्र और उच्चगोत्र कर्म का अर्थ समझने मे भूल होती है और इससे अनेक लोग भ्रम में पड़ गये हैं। वीरमगांव मे मुझ से प्रश्न किया गया था कि शास्त्र मे उच्च और नीच गोत्र का नाम आता है? मैंने कहा—हा, शास्त्र मे दोनो का नाम आता है। तो उच्च गोत्र उच्च होगा और नीच गोत्र नीच होगा? उत्तर में

मैंने कहा—तुम इस प्रकार तो कहते हो पर शास्त्र में कहीं ऐसा आया तो बताओ कि किसी मनुष्य को छूना नहीं चाहिए! अतिरिक्त नीचगोत्र क्षय किया जाता है या उसकी रक्षा की जाती है ? जब नीचगोत्र क्षय किया जाता है तो वह नीच गोत्र ही बना रहता है, यह कैसे कहा जा सकता है ? नीच गोत्र वाला उच्च गोत्री भी बन सकता है ।

गोत्र का अर्थ करते हुए कहा गया है:—
गा वाणी त्रायते रक्षति इति गोत्र ।

'गो' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं । यहां 'गो' शब्द का अर्थ वाणी है और 'त्र' का अर्थ पालन करना है । इस प्रकार गोत्र का अर्थ 'वाणी का पालन करना' होता है । इस अर्थ के अनुसार श्रेष्ठ पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला नीचगोत्री कहलाता है ।

कहा जाता है कि नीच गोत्र वाले को मुक्ति नहीं मिल सकती, लेकिन यह ध्यान में रखना चाहिए कि नीच-गोत्र कर्म का क्षय भी हो जाता है और तब वह मुक्ति का अधिकारी क्यों न होगा ? नीचगोत्र में उत्पन्न होकर के भी उच्च पुरुषों की वाणी का पालन करने वाला मुक्ति प्राप्त कर सकता है । गोत्र दो प्रकार का है—एक जन्म-जात गोत्र और दूसरा कर्मजात गोत्र । जन्मजात गोत्र कर्म द्वारा बदला जा सकता है । श्री उत्तराध्ययनसूत्र में कहा है —

सोवागकुलसंभूओ, गुणुत्तरधरो मुणी ।
हरिएस बलो नाम, आसी भिक्खू जिइंदिओ ।।
—उत्तराध्ययन १२-१ ।

इस कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि चाण्डाल कुल में उत्पन्न हो जाने पर भी महापुरुषो की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और ब्राह्मणकुल मे उत्पन्न हो करके भी नीच वाणी को पालने वाला नीचगोत्रवान् है। महाभारत में भी कहा है कि ब्राह्मण कुल मे उत्पन्न होने वाला व्यक्ति भी चांडाल वन सकता है। इससे साफ जाहिर हो जाता है कि उच्चता और नीचता जन्मजात ही नही किन्तु कर्मजात भी है।

आपको ऐसा विचार नही करना चाहिए कि हम उच्च कुल मे जन्म चुके है, इसलिए अव हमे कुछ भी करना शेष नही रहा, इससे विपरीत आपको यह विचारना चाहिए कि हम जितने अशो मे महापुरुषो की वाणी का पालन करते हैं उतने अंशो मे तो उच्च गोत्र के हैं और जितने अशो मे उस वाणी का पालन नही करते उतने अंशों मे उच्चगोत्री नही हैं। इस प्रकार विचार करने से ही अपनी अपूर्णता देखी जा सकती है और फलस्वरूप अपूर्णता दूर करने का प्रयत्न करके आत्मा का कल्याण किया जा सकता है।

अहंकार को जीतना वदना का एक प्रधान प्रयोजन है। वन्दना का अर्थ नम्रभाव धारण करना है। नम्रभाव धारण करने वाला ही अहकार को जीत सकता है परन्तु वन्दना सांसारिक पदार्थों की स्वार्थ भावना से नही होनी चाहिए। सांसारिक पदार्थों की कामना से तो सभी लोग नमनभाव धारण कर लेते है। क्या व्यापारी अपने ग्राहक को नमन नही करता ? वचपन मे मैंने इस स्थिति का अनुभव किया है कि व्यापारी किस प्रकार ग्राहक को नमन

करते हैं। मैं जब छोटा था और दुकान पर बैठता था तब मुझे यह अनुभव हुआ था कि ग्राहक की कितनी प्रशंसा और कितना आदर किया जाता है। लेकिन यह सब नमनभाव उसकी गांठ का पैसा निकलवाने के लिए ही होता है। इस प्रकार स्वार्थ सिद्धि के लिए तो वंदना की ही जाती है किन्तु यहां जिस वंदना की चर्चा चल रही है, वह ऐसी नहीं होनी चाहिए। वह गुणों की वंदना होनी चाहिए। गुण देखकर उन्हें प्राप्त करने के लिए की जाने वाली वंदना ही सच्ची वंदना है। इस प्रकार की वंदना से अहंकार पर विजय प्राप्त की जा सकती है और परमात्मा से भेंट हो सकती है।

आज वंदना करने में भी पक्षपात किया जाता है। अर्थात् यह कहा जाता है कि वे हमारे हैं अतएव उन्हें मैं वंदना करता हूँ और अमुक मेरे नहीं हैं, अतः मैं उन्हें वंदना नहीं करता। वन्दना करने में भी इस प्रकार का पक्षपात चलाया जाता है। छद्मस्थ पक्षपात से सर्वथा मुक्त नहीं हो सकता, लेकिन वह पक्षपात तेरे-मेरे का नहीं होना चाहिए, वरन् पक्षपात गुणों के प्रति होना चाहिए और यह देखना चाहिए कि उनमें वंदना करने योग्य गुण हैं या नहीं।

शास्त्रों का कथन है कि तुम उन्हीं को वंदना करो, जिनमें संयम आदि गुण हैं। जिनमें यह गुण नहीं हैं, उन पासत्था आदि को शास्त्र ने वंदना न करने का विधान किया है। शास्त्र को पासत्था, कुशील या स्वच्छन्दचारी लोगों के प्रति द्वेष नहीं है, किन्तु शास्त्र ने उन्हें वंदना करने वालों को भी यह सूचना कर दी है कि पासत्था आदि को वंदना करना उन्हें और अधिक पतित करने के समान है। अगर

आप उन्हें वंदना करेंगे तो वे विचार करेंगे—'लोग हमें वन्दना तो करते ही हैं, फिर यदि संयम का पालन न किया तो भी क्या हर्ज है?' इस प्रकार विचार कर वे लोग अधिक पतित हो जाते हैं। अतः ऐसे लोगो को वन्दना करना उन्हे अधिक पतित करने के समान है। वंदना गुणो के लिए ही की जाती है अतः जिनमे सयमादि गुण हों उन्ही को वंदना करना उचित है। जिन्होने सयमादि गुणो को स्वीकार तो किया है, किन्तु जो उन्हे अपने जीवन मे उतारते नही है, उन पासत्था आदि को वन्दना करना अपने को और उनको पतित करने के समान है।

संबोधसत्तरी में कहा है—

पासत्थ वंदमाणस्स नेव कित्ति न निज्जरा होई।
होई कायकिलेसो, अण्णाणं बंधई कम्मं ॥

अर्थात् जो ज्ञान दर्शन और चरित्र आदि गुणो को धारण तो करता है, परन्तु उनका निर्वाह नही करता, उसे पासत्था कहते हैं। ऐसे (पार्श्वस्थ) लोगों को और इसी कोटि के कुशील और स्वच्छन्दी लोगो को वंदना करना अनुचित है। कतिपय लोगो का कहना है कि हमे किसी के प्रति राग-द्वेष नही रखना चाहिए और सभी को वंदना करनी चाहिए। मगर यह कथन ठीक नही है। राग-द्वेप नही होगा तो वंदना किये विना ही मुक्ति मिल जायगी। अगर कोई वंदना करता है तो उसे सोचना चाहिए कि वह किसको और किस उद्देश्य से वन्दना कर रहा है? राज-रुप आदि को जो वन्दना की जाती है वह उसकी सत्ता

के कारण की जाती है, लेकिन वंदना करने योग्य गुणों से रहित पासत्था आदि की वन्दना करने का उद्देश्य क्या है? यहा जिस वन्दना का प्रकरण चल रहा है, वह वन्दना संयमादि गुणो से हीन पुरुषो को करना उचित नही है। क्यों उचित नही है, यह बताने के लिए इस गाथा में कहा है कि पासत्था को वन्दना करने से कीर्त्ति भी नही मिलती। कहा जा सकता है कि कीर्त्ति न मिले तो न सही, निर्जरा तो होगी? मगर आगे इसी गाथा मे कहा है कि पासत्था आदि को वन्दना करने से निर्जरा भी नही होती। कोई कह सकता है—निर्जरा न हो तो न सही, वन्दना करने में हानि क्या है? इसके उत्तर में कहा है—पासत्था आदि को वंदना करने से निरर्थक कायक्लेश होता है। कदाचित् कहा जाय कि ऐसा कायक्लेश तो होता ही रहता है, इसके अतिरिक्त और कोई हानि तो नही होती? इस प्रश्न के उत्तर मे, गाथा में बतलाया गया है कि पासत्था आदि को वन्दना करने से सिर्फ कायक्लेश ही नही होता वरन् अनाज्ञा कर्म का बंध भी होता है अर्थात् भगवान् की आज्ञा के विरुद्ध कार्य करने का पाप लगता है।

मान लीजिए, चम्पा के फूलो की माला अशुचि मे पड गई है। यद्यपि चम्पा के फूलों की माला आपकी दृष्टि मे अच्छी वस्तु है, फिर भी अशुचि में पडी हुई वह माला पहनने योग्य नही है। इसी प्रकार जो लोग पासत्थापन की अशुचि मे पड गये है, उनके प्रति बुद्धिमान् पुरुष किसी प्रकार का द्वेष धारण नही करते किन्तु मात्र ही गुणी जनो के प्रति जाने योग्य वन्दना भी नही करते। निशीथसूत्र मे भी कहा है—

'जे भिक्खू पासत्थ वंदई, वंदत वा साइज्जइ, एवं कुसीलं उसन्नं, अहाछंदं संसत्तं ।'

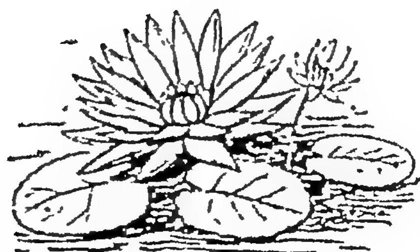
इस प्रकार पार्श्वस्थ आदि को वन्दना करने का बहुत कुछ निषेध किया गया है। यह ठीक है कि वन्दना करने से बहुत लाभ होते हैं, मगर गुणरहित को वन्दना करने से लाभ के बदले उलटी हानि ही होती है। वन्दना के जो बत्तीस दोष बतलाये गये हैं, उनके वर्णन करने का अभी समय नही है। अतएव संक्षेप में मैं इतना ही कहता हूँ कि पच्चीस आवश्यक सहित और बत्तीस दोषरहित वंदना करने का फल नीच गोत्र का क्षय करना और उच्च गोत्र का बांधना है।

गोत्र की व्याख्या पहले की जा चुकी है। श्रेष्ठ पुरुषो की वाणी का पालन करने वाला उच्चगोत्री है और नीच पुरुष की वाणी का अनुसार करने वाला नीचगोत्री है। किसी-किसी कुल मे अमुक प्रसंगों पर मदिरापान करने की परम्परा होती है। ऐसे नीच संस्कार का आचरण करना नीचगोत्र होने का कारण है। इसी प्रकार किसी के कुल में ऐसी पद्धति होती है कि अमुक प्रसग पर कोई शुभ कृत्य करना ही चाहिए। यह उच्च या श्रेष्ठ की वाणी का आचरण है। इस प्रकार जो जैसों की वाणी का पालन करता है, उसके कुल मे संस्कार भी प्रायः वैसे ही बन जाते हैं और उस वाणी के पालन करने के आधार पर ही वे उच्चगोत्र के अथवा नीचगोत्र के माने जाते हैं। उच्चगोत्र वालों के कुल के संस्कारो से आत्मा उन्नत बनता है अवनत नही बनता। किसी कुल के संस्कार ऐसे भी होते हैं कि उनकी बदौलत उन्हें अच्छी बात रुचिकर नहीं होती और पाप-

कृत्यों के प्रति घृणा नहीं होती । किसी कुल के संस्कार ऐसे होते है कि चाहे जो हो पर उस कुल मे जन्मने वाले पाप कार्यों मे प्रवृत्त नही होते। उदाहरणार्थ– तुम्हारे सामने कोई लाख रुपयों की थैली रख दे तो भी तुम बकरे की गर्दन पर छुरी फेरने को तैयार नही होओगे । यह उच्च-गोत्र और कुल के सस्कारो का ही प्रभाव है । कभी-कभी उच्चगोत्र वालो मे भी कोई बुरी बात घुस जाती है । जैसे तुम लोगो को बकरा मारने मे जैसी घृणा है, वैसी ही घृणा क्या असत्य भाषण और व्यभिचार के प्रति भी है ?

प्राचीन काल मे व्यभिचार हिंसा से भी अधिक बुरा माना जाता था । मगर आजकल व्यभिचार के प्रति उतनी घृणा नही देखी जाती । महाशतक श्रावक की पत्नी रेवती हिंसा का क्रूर कर्म करती थी, फिर भी महाशतक ने उसे घर से बाहर नही निकाल दिया था । महाशतक ने रेवती को घर से बाहर क्यो नही निकाल दिया ? इसका कारण मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि महाशतक यह विचार करता था कि रेवती का खान-पान खराब है लेकिन मुझ पर इसका अनुराग है और वह व्यभिचार से बची हुई है । अगर मैं उसे बाहर कर दूंगा तो वह और अधिक बिगड़ जायगी और सम्भव है व्यभिचार आदि के पापों मे भी पड़ जाय ! इस प्रकार विचार कर उनने स्वय तो मांसभक्षण का आदर नही किया, किन्तु रेवती को व्यभिचार आदि पापों से बचाने के लिए घर से बाहर भी नही निकाला । इस तरह पहले के जमाने मे व्यभिचार हिंसा से बड़ा पाप माना जाता था ।

जाते हैं और विकार दूर हो जाने पर मन, वचन और काय की शुद्धि होती है और आत्मा को शान्ति प्राप्त होती है। अतएव अगर आप पूर्ण आत्मशान्ति प्राप्त करना चाहते हैं और सुभागी बनना चाहते हैं तो गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करके ऐसा समझो कि यह सब गुरु के चरणों का ही प्रताप है। व्यवहार में तो कहते ही हो कि यह सब गुरुचरणों का प्रताप है, लेकिन हृदय में भी यही कहो और गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करो। साधारणतया साधुजन प्रत्येक बात उपदेश रूप में ही कहते हैं-आदेश रूप में नहीं। फिर आज आपको जो कुछ भी शुभ संयोग मिला है वह किसी महात्मा की कृपा से ही मिला है। यह बात ध्यान में रखकर गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करोगे तो आत्मा को पूर्ण शान्ति प्राप्त होगी और आत्मकल्याण होगा।



४-प्रतिक्रमण

गुरु को विधिपूर्वक वन्दना करने के लिए हृदय के भाव शुद्ध रखने चाहिए मगर कभी-कभी शुद्ध भाव हृदय से निकल जाते हैं और अशुद्ध भाव उनका स्थान ग्रहण कर लेते हैं। इन अशुद्ध भावों को बाहर निकालने और आत्मा में पुनः शुद्ध भाव लाने के लिए प्रतिक्रमण करने की आवश्यकता बतलाई गई है। अतएव प्रतिक्रमण के सम्बन्ध में भगवान् से प्रश्न किया गया है—

प्रश्न--पडिक्कमणेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—पडिक्कमणेणं वय-छिद्दाइं पिहेइ, पिहियवय-छिद्दे पुण जीवे निरुद्धासवे असबलचरित्ते अट्ठसु पवयणमायासु उवउत्ते अपुहत्ते (अप्पमत्ते) सुप्पणिहिए विहरइ ॥ १ ॥

अर्थात्

प्रश्न—भगवन् ! प्रतिक्रमण करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर प्रतिक्रमण करने से अहिंसा आदि व्रतों के

अतिचार (दोष) रुकते हैं और अतिचारों को रोकने वाला जीव आस्रव को रोकता हुआ तथा निर्मल चारित्र का पालन करता हुआ आठ प्रवचनमाता (पांच समिति और तीन गुप्ति) रूप संयम में उपयुक्त, अप्रमत्त और सुप्रणिहित होकर विचरता है अर्थात् निजस्वरूप को प्राप्त करता है।

किस उद्देश्य से प्रतिक्रमण करना चाहिए और प्रतिक्रमण करने से क्या लाभ होता है, इस विषय में अभी ऊहापोह न करते हुए सिर्फ इतना कहता हूं कि भगवान् की आज्ञा के अनुसार प्रथम और अन्तिम तीर्थङ्करो के साधुओ को प्रतिक्रमण करना ही चाहिए। बीच के बाईस तीर्थङ्करों के साधु ऋजु-सरल होते है अतएव जब उन्हे दोष लगता है तब वे प्रतिक्रमण करते हैं और जब दोष नही लगता तो प्रतिक्रमण नही करते। मगर प्रथम और अंतिम तीर्थङ्करो के साधुओ को तो प्रतिक्रमण करना ही चाहिए।

अब विचार करना है कि प्रतिक्रमण का अर्थ क्या है ? दूसरे लोग जिस प्रकार संध्या वन्दन आदि करते हैं, वही स्थान जैनदर्शन में प्रतिक्रमण का है। परन्तु सध्या-वन्दन और प्रतिक्रमण मे भेद है। प्रतिक्रमण का स्वरूप और उसका उद्देश्य बतलाते हुए कहा है —

स्वस्थानात् परस्थानं प्रमादस्य वशाद् गतं।
तत्रैव क्रमण भूय प्रतिक्रमणमुच्यते ॥
क्षायोपशमिकाद् भावादौदयिकस्य वशगत।
तत्रापि च स एवार्थः प्रतिकूलं गमात्स्मृतः ॥

पुरुष जिस स्थान से स्खलित हुआ हो, उसी स्थान पर उसका फिर आ जाना प्रतिक्रमण कहलाता है । जो आत्मा स्व-स्थान का त्याग करके प्रमाद के वश होकर पर-स्थान मे चला गया हो, उसे फिर स्वस्थान मे लाना प्रतिक्रमण है । जैसे कोई बालक अपना घर छोड़कर दूसरे के घर चला जाय तो उसे वापस अपने घर लाया जाता है, इसी प्रकार आत्मा जब अपने स्थान से, दूसरे स्थान पर चला गया हो तो उसी को प्रतिक्रमण द्वारा अपने स्थान पर लाया जाता है ।

घर में से चली गई इष्ट वस्तु को फिर अपने घर लौटा लाने का प्रयत्न सारा संसार करता है । आप लोग तिजोरी में से रुपया निकाल देते हैं किन्तु आपका प्रयत्न तो यही रहता है कि निकाला हुआ रुपया ब्याज सहित लौटकर आवे । रुपया लौटकर आवेगा, इस आशा से आप उसे छोड़ नहीं देते । जिस रुपये की आशा छोड़ दी जाती है, वह जूआ मे लगाया हुआ समझा जाता है । जिसमें लगाया रुपया लौटकर नहीं आता, वह जूआ है, व्यापार नहीं । व्यापार तो वही माना जाता है जिसमें लगाया रुपया ब्याज के साथ वापस लौटता है । इस प्रकार सभी लोग यह चाहते हैं कि जो इष्ट वस्तु हमारे यहां से गई है, वह वापस लौट आवे । सारा संसार इसी प्रयत्न मे संलग्न है ।

स्वस्थान मे चला गया आत्मा प्रतिक्रमण द्वारा फिर स्वस्थान पर लाया जाता है । प्रतिक्रमण द्वारा आत्मा को फिर स्वस्थान पर लाने से आत्मा के भाव अपूर्व हो जाते हैं । आत्मा के भाव क्षायोपशमिक, औपशमिक और क्षायिक

हैं । इन भावो से अलग होकर आत्मा का औदयिक भाव मे जाना स्वस्थान से परस्थान जाना है । इस परस्थान से आत्मा को फिर स्वस्थान में लाना ही प्रतिक्रमण कहलाता है ।

जैनशास्त्र परमात्मा के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की वात कहकर ही नहीं रह जाते । वे सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उपाय भी वतलाते हैं। प्रतिक्रमण के उपदेश का प्रयोजन ईश्वर के साथ सम्वन्ध जोड़ना ही है । प्रतिक्रमण करने से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है, इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—प्रतिक्रमण करने से व्रत मे पडे हुए छिद्र ढक जाते हैं । अर्थात् अंगीकार किये हुए व्रतो मे अतिचार रूपी जो छिद्र पड जाते हैं, वह प्रतिक्रमण करने से मिट जाते हैं ।

'प्रतिक्रमण' शब्द 'प्रति' और 'क्रमण' इन दो शब्दों के सयोग से वना है, जिसका अर्थ होता है—परस्थान मे प्राप्त आत्मा को स्वस्थान पर लाना । स्वीकार किये व्रतो मे दोप आना भी आत्मा का अपने स्थान से पतित होना है । उस पतित स्थान से आत्मा को फिर वापस लौटाना और अपने स्थान पर अर्थात् व्रतपालन में स्थिर करना प्रतिक्रमण कहलाता है ।

आत्मा जब व्रतो को अंगीकार करता है तो सावधानी से ही अगीकार करता है, परन्तु फिर प्राकृतिक दुर्वलता के कारण या छद्मस्थता के कारण व्रतो का पालन करने मे किसी न किसी प्रकार भी भूल हो जाना सम्भव है । भगवान् ने अपने ज्ञान से यह वात जानकर आज्ञा दी है कि

मेरे शासन के साधु-साध्वियों को प्रतिक्रमण अवश्य करना चाहिए, क्योंकि इस काल मे यह सम्भव नही है कि उनके व्रतो मे कोई भी दोष न लगे । अतएव नियमित रूप मे प्रतिक्रमण करना ही चाहिए ।

पूज्य श्री श्रीलालजी महाराज बहुत बार कहा करते थे कि पक्का मकान थोडे दिनो तक सभाला न जाय और उस मकान मे जब कोई छिद्र दृष्टिगोचर हो, तब छिद्र को ढक दिया जाय तो उस मकान के तत्काल पड जाने की सम्भावना नही रहती और न उसे और कोई हानि होने का डर रहता है परन्तु जो मकान कच्चा होता है उसे निरन्तर सम्भालने की आवश्यकता बनी रहती है और कही जरा सा छिद्र नजर आया कि तत्काल मूंद देना आवश्यक हो जाता है । इसी प्रकार बीच के बाईस तीर्थंकरों के शासन के साधुओं के व्रत पक्के मकान सरीखे होते हैं । अतएव जब वे अपने व्रतो में छिद्र देखते हैं तो प्रतिक्रमण करते है, छिद्र नही देखते तो प्रतिक्रमण भी नही करते । परन्तु चौबीसवें तीर्थङ्कर के साधुओ के व्रत कच्चे मकान के समान हैं । अतः उन्हें अपने व्रतो की सदैव सार-सम्भाल रखनी चाहिए और व्रतो मे पड़े हुए छिद्रों को प्रतिक्रमण द्वारा मूंदते रहना चाहिए ।

आप अपने कपडो मे जब छेद पडा देखते हैं तो उसे सांध कर बन्द कर देते हैं, तो फिर व्रतो मे पडे हुए छिद्रो को बन्द करने मे कौन बुद्धिमान् पुरुष विलम्ब करेगा ? जो बुद्धिमान् होगा और जो अपनी आत्मा का कल्याण करना

चाहता होगा, वह अपने व्रतो में पड़े हुए छिद्रों को प्रतिक्रमण द्वारा तत्काल वन्द कर देगा। नौका में छेद हो गया हो और उस छेद के रास्ते नौका में पानी भर रहा हो तो क्या कोई बुद्धिमान् पुरुष उस छेद को बना रहने देगा? छेद वन्द न किया तो उसके द्वारा नौका मे पानी भर जायगा और परिणाम यह होगा कि नौका डूव जायगी। इसी प्रकार अगर व्रतो मे हुए छिद्र वन्द न कर दिये जाए तो आस्रव रूपी पानी भरे विना नही रहेगा और फलस्वरूप व्रत रूपी नौका डूव जायगी। अतएव जैसे मकान में से पानी न टपकने देने का खयाल रखा जाता है, उसी प्रकार अपने व्रतो की भी सभाल रखनी चाहिए। जव कभी व्रतों मे छिद्र दिखाई दे तो उसे तत्काल वन्द कर देना चाहिए।

मल्ल कुश्ती लड़ने के वाद और वीर योद्धा युद्ध करने के वाद सध्या समय अपनी शुश्रूषा करने वाले को वतला देता है कि आज सारे दिन मुझे अमुक जगह चोट लगी है और अमुक जगह मुझे दर्द हो रहा है। जव मल्ल या योद्धा अपना दर्द वता देता है तो शुश्रूषा करने वाला सेवक औषध या मालिश द्वारा उस दर्द को मिटा देता है और दूसरे दिन मल्ल कुश्ती करने के लिए और योद्धा युद्ध करने के लिए तैयार हो जाता है। इसके विपरीत मल्ल या योद्धा अपना दर्द शुश्रूषा करने वाले सेवक के आगे प्रकट न करे वल्कि छिपा ले तो उसका दर्द दूर न होगा और नतीजा यह होगा कि मल्ल कुश्ती करने और योद्धा युद्ध करने के लिए फिर जल्दी तैयार नही हो सकेगा। इसी प्रकार जो साधु दैवसिक और रात्रिक प्रतिक्रमण मे अपने व्रतो की सारणा-वारणा कर लेता है और लगे हुए दोषो को प्रतिक्रमण द्वारा दूर

कर देता है, वह साधु निश्चित रूप से अपने कर्मों को जीत लेता है ।

कहने का आशय यह है कि प्रतिक्रमण द्वारा आस्रव रूपी पानी आने का छिद्र ढक जाता है और प्रतिक्रमण करने वाला निरुद्ध-आस्रव बन जाता है । निरुद्ध-आस्रव होने से उसका चारित्र भी असबल अर्थात् निर्मल रहता है । सबल का अर्थ है—मलिन-खराब । किसी वस्तु में दाग लग जाने से खराबी आ जाती है, उसे सबल कहते हैं । दाग वाली वस्तु अच्छी नहीं कहलाती । व्रतों में लगा हुआ दाग प्रतिक्रमण रूपी निर्मल नीर से धुल जाता है और इस कारण चारित्र निर्मल रहता है ।

प्रतिक्रमण करना एक प्रकार से फिसली हुई आत्मा को सावधान करना ही है । प्रतिक्रमण करना आत्मारूपी घड़ी को चाबी देना है । अगर कोई घड़ी ऐसी हो कि जब तक उसमें चाबी घुमाई जाती रहे तब तक वह चलती रहे और चाबी घुमाना बन्द करते ही वह बन्द भी हो जाय, तो यही कहा जायगा कि घड़ी बिगड़ी है । एक बार चाबी देने पर नियत समय तक चलने वाली घड़ी ही अच्छी घड़ी कहलाती है । इसी प्रकार एक बार प्रतिक्रमण रूपी चाबी देने के पश्चात् आत्मा को नियत समय तक तो सावधान रहना ही चाहिए । अगर प्रतिक्रमण करते समय आत्मा शुभयोग में रहे और प्रतिक्रमण बन्द करते ही अशुभयोग में गिर जाय तो बिगड़ी घड़ी के समान ही उसका व्यवहार कहना चाहिए ।

**

५-कायोत्सर्ग

आत्मशुद्धि के लिए प्रतिक्रमण के विषय मे कहा जा चुका है । प्रतिक्रमण के पश्चात् कायोत्सर्ग किया जाता है । तात्पर्य यह है कि प्रतिक्रमण करते समय व्रतो के अतिचार रूपी घाव देखकर, उन्हे बन्द करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी औषध लगाई जाती है । जिस प्रकार मैले कपड़े धोये जाते है और उनका मैल दूर किया जाता है, उसी प्रकार आत्मा के व्रत रूपी वस्त्र पर अतिचार रूपी जो मैल चढ गया है, उसे साफ करने के लिए कायोत्सर्ग रूपी जल से धोना पडता है। यही कायोत्सर्ग है । जिस किसी उपाय से शरीर को ही नष्ट कर डालना कायोत्सर्ग नहीं है, वरन् शरीर सम्बन्धी ममता को त्याग देना ही सच्चा कायोत्सर्ग है ।

कायोत्सर्ग के विषय में भगवान् से प्रश्न किया गया है-

प्रश्न—काउसग्गेणं भन्ते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—काउसग्गेणं तीयपडुप्पन्नं पायच्छित्तं विसोहेइ, विसुद्धपायच्छित्ते य जीवे निव्वुयहियए ओहरियभरुव्व भारहे पसत्थधम्मझाणोवगए सुहं सुहेण विहरइ ।

अर्थात्

प्रश्न—भगवन् ! कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है ?

उत्तर—कायोत्सर्ग करने से भूतकाल के और वर्त्तमान-काल के अतिचारों को प्रायश्चित्त द्वारा विशुद्ध किया जाता है और इस प्रकार शुद्ध हुआ जीव, जैसे सिर का बोझ उतरने से मजदूर सुखी होता है, उसी प्रकार अतिचार रूपी बोझ उतर जाने से उत्तम धर्मध्यान में लीन होता हुआ, इहलोक परलोक में सुखी होता है और अनुक्रम से मोक्ष-लाभ करता है ।

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है, इस प्रश्न के उत्तर में ऊपर भगवान् ने जो फरमाया है, उस पर विचार करने से पहले यह देख लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग का अर्थ क्या है ? काय का उत्सर्ग अर्थात् त्याग करना कायोत्सर्ग है । काय के उत्सर्ग या त्याग करने का अर्थ यह नहीं है कि शस्त्र के आघात से, विषपान से या अग्नि-पानी में कूद करके मर जाना और इस प्रकार शरीर का त्याग कर देना । किन्तु शास्त्र में कही हुई रीति के अनुसार काय का त्याग करना ही कायोत्सर्ग है । कायोत्सर्ग के विषय में शास्त्र में खूब स्पष्टीकरण किया गया है । यहां थोड़ा-सा विवेचन करना आवश्यक है ।

काय का त्याग दो प्रकार से होता है—प्रथम तो जीवन भर के लिए और दूसरे परिमित समय के लिए । जीवन भर के लिए किये जाने वाले कायोत्सर्ग के दो भेद हैं । एर

यावज्जीवन कायोत्सर्ग उपसर्ग आने पर किया जाता है और दूसरा विना उपसर्ग ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता है । उपसर्ग उपस्थित होने पर यावज्जीवन के लिए जो कायोत्सर्ग किया जाता है, उसमे यह भावना रहती है कि उपसर्ग के कारण अगर मैं मर गया तो मेरा यावज्जीवन कायोत्सर्ग है । अगर मैं जीवित बच गया तो जब तक उपसर्ग रहे तब तक के लिए ही यह कायोत्सर्ग है । निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग मे ऐसा कोई आगार नही रहता । निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग मे पादोपगमन संथारा ऐसा होता है कि जैसे वृक्ष में से काट डाली गई डाली निश्चेष्ट हो जाती और सूख जाती है, उसी प्रकार यह सथारा धारण करने वाले महात्मा अपने शरीर को 'शुष्क' कर डालते हैं । इस प्रकार का सथारा न कर सकने वाले के लिए इंगितमरण संथारा बतलाया गया है लेकिन जो लोग इंगितमरण सथारा भी नही कर सकते, उनके लिए चौविहार या तिविहार का त्याग रूप यावज्जीवन कायोत्सर्ग बतलाया गया है । किन्तु इस प्रकार के सब निरुपसर्ग यावज्जीवन कायोत्सर्ग तभी किये जाते हैं जब ऐसा प्रतीत हो कि मरणकाल समीप आ गया है । मरणकाल सन्निकट न आया हो तो इस प्रकार का कायोत्सर्ग अर्थात् सथारा नही किया जा सकता । यों तो कायोत्सर्ग अर्थात् संथारा करना अच्छा ही है किन्तु जब तक मरणसमय सन्निकट नहीं है या संथारा करने का कोई कारण नही है, तब तक इस प्रकार के कायोत्सर्ग करने का विधान नही है । अतएव योग्य समय प्राप्त होने पर संथारा करना ही उचित है ।

सिंह वगैरह का कोई प्राणघातक उपसर्ग उपस्थित

होने पर भी संथारा किया जाता है, किन्तु वह संथारा इस रूप में किया जाता है कि अगर इस उपसर्ग से मेरे प्राण चले जाएं तो यावज्जीवन के लिए मेरा कायोत्सर्ग है और यदि इस उपसर्ग से बच जाऊं तो मेरा यह कायोत्सर्ग जीवनभर के लिए नही है ।

कहा जा सकता है कि यह कायोत्सर्ग तो 'वृद्धा नारी प्रतिव्रता' की उक्ति चरितार्थ करता है । अर्थात् उपसर्ग से न बचे तो त्याग है, बच गये तो त्याग नही है, भला यह भी कोई त्याग है ? इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि उपसर्ग के समय इस प्रकार का त्याग करने से उपसर्ग के कारण पर क्रोध नहीं भड़कता । कायोत्सर्ग करने के बाद उपसर्ग के कारण के प्रति उस प्रकार का क्रोध नहीं होता कि 'मैंने इसका क्या बिगाड़ा था कि यह मुझे कष्ट पहुंचा रहा है ।' जब उपसर्ग के कारण पर क्रोध नहीं आता और उपसर्गदाता पर भी शान्तभाव बना रहता है, तभी कायोत्सर्ग ठीक रह सकता है । कायोत्सर्ग करने पर भी यदि उपसर्ग करने वाले के प्रति क्रोध उत्पन्न हुआ तो वह कायोत्सर्ग ही नही है ।

अर्जुन माली सुदर्शन श्रावक को जब मारने आया था, तब सुदर्शन को उस पर क्रोध आना संभावित था । लेकिन सुदर्शन ने अर्जुन पर क्रोध नही किया, बल्कि अपना मित्र समझा । उसने विचार किया कि अर्जुन परीक्षा ले रहा है कि मुझ मे क्रोध है या नही ? मैं भगवान् का सच्चा भक्त हूँ या नही ? अतएव हे प्रभो ! मैं तुमसे यही प्रार्थना करता हूँ कि अर्जुन मित्र पर मुझे कदापि क्रोध न आवे ।

उपसर्ग आने पर कायोत्सर्ग करने का महत्त्व यह है कि सुदर्शन को अर्जुन माली पर उस समय क्रोध नही आया। अब यह कहा जा सकता है कि ऐसा ही है तो यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने की क्या आवश्यकता है ? मर्यादित समय के लिए ही कायोत्सर्ग क्यो न किया जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि सम्भव है, उपसर्ग में ही मरण हो जाय। यह बात दृष्टि में रखकर ही यावज्जीवन कायोत्सर्ग किया जाता है।

कहा जा सकता है कि फिर वह कायोत्सर्ग यावज्जीवन के लिए ही क्यो नही रखा जाता ? उपसर्ग से बचने के बाद वह त्याग क्यो नही माना जाता ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मरणकाल समीप न होने पर भी कायोत्सर्ग करना उचित नही है। ऐसा कायोत्सर्ग आत्महत्या की कोटि मे दाखिल हो जाता है। आत्महत्या का पाप भी न लगे और उपसर्ग से बचने के बाद कायोत्सर्ग भग करने का पाप भी न लगे, इसी उद्देश्य से उपसर्ग के समय यावज्जीवन कायोत्सर्ग करने पर भी यह छूट रखी जाती है कि अगर मैं उपसर्ग से बच जाऊं तो मेरे त्याग नही है। उपसर्ग से बचने के बाद शरीर की संभाल तो रखनी ही पडती है, अतएव मर्यादित त्याग किया जाता है। इस प्रकार का मर्यादित त्याग साधु अपनी रीति से करते हैं और श्रावक अपनी रीति से।

सोते समय भी इस प्रकार का संथारा करने की पद्धति है कि अगर सोते-सोते ही मेरा मरणकाल आ जाय तो मेरे यावज्जीवन संथारा है। सोते समय संथारा करने की ऐसी

पद्धति है। किन्तु इस प्रकार के संथारे मे भावना की प्रबलता होना आवश्यक है। ऐसा संथारा करने के पश्चात् मन सांसारिक कामो मे नही लगना चाहिए। कहा जा सकता है कि संस्कार के कारण स्वप्न तो आते ही होगे ! मगर स्वप्न आने पर प्रायश्चित्त लेना चाहिए और उसका प्रतिक्रमण करना चाहिए ? अलबत्ता, जहां तक हो सके, सोते समय मन मे किसी भी प्रकार का सांसारिक सस्कार नही रहने देना चाहिए।

कायोत्सर्ग करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—कायोत्सर्ग करने से अतीतकाल और वर्त्तमानकाल के पापो के प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती है। यहा प्रश्न किया जा सकता है कि अतीतकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि तो ठीक है, पर भूतकाल की विशुद्धि में वर्त्तमानकाल के प्रायश्चित्त की विशुद्धि किस प्रकार होती है ? इस प्रश्न का समाधान करने के लिए टीकाकार कहते है कि समीप का भूतकाल भी वर्त्तमानकाल ही कहा जाता है। अतीतकाल का अर्थ दूरवर्त्ती पिछला काल है और वर्त्तमानकाल का आशय समीपवर्त्तीकाल है। जैसे—दिन के चार प्रहर होते हैं। आप संध्यासमय प्रतिक्रमण करते है। उस समय सारा ही दिन भूतकाल है लेकिन दिन का चौथा प्रहर समीप का भूतकाल है अर्थात् आसन्नभूत है। इस आसन्नभूतकाल को ही यहा वर्त्तमानकाल कहा है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके विषय में दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि भगवान् ने कहा है कि

कायोत्सर्ग मे प्रायश्चित्त की विशुद्धि होती है, लेकिन जिसमे पाप का छेदन हो, वही प्रायश्चित्त कहलाता है और इस प्रकार प्रायश्चित्त का अर्थ विशुद्धि है। तो फिर प्रायश्चित्त की विशुद्धि कैसे की जाती है? इसका उत्तर यह है कि यहा प्रायश्चित्त शब्द का प्रयोग व्रत के अतिचारो के लिए किया गया है। प्रायश्चित्त करने योग्य व्रत-सम्बन्धी अतिचारो की कायोत्सर्ग करने से विशुद्धि होती है।

कुछ लोगों का कहना है कि किये हुए पाप का फल भोगना ही पड़ता है। मगर जब सब चीजो की विशुद्धि होती है तो पाप की ही विशुद्धि क्यो न होगी? जब ससार की समस्त वस्तुओं की विशुद्धि हो सकती है तो फिर अतिचार से अशुद्ध आत्मा की विशुद्धि न होने का क्या कारण है?

ससार की समस्त वस्तुए शुद्ध की जा सकती हैं और दूसरे लोगो ने इस प्रकार की शुद्धता करके लाभ भी प्राप्त किया है, मगर हिन्दू जाति ने यह शुद्धि नही अपनाई और इसी कारण उसे हानि उठानी पडी। हिन्दू जाति ने यह समझ लिया कि एक बार जो अशुद्ध हो गया सो बस हो गया, वह फिर कभी शुद्ध नही हो सकता। सोना भी अशुद्ध होता है लेकिन वह शुद्ध कर लिया जाता है। अगर कोई चोकसी (सर्राफ) सोने को शुद्ध करने के बजाय फेंक दे और यह समझ ले कि एक बार अशुद्ध हो जाने के बाद उसकी शुद्धि हो ही नही सकती तो उसका दीवाला निकल जायगा या नही? वास्तव में यह मानना भूल है कि किये हुए पापो की शुद्धि नही हो सकती। पापो की विशुद्धि अवश्य हो सकती है। अगर पापो की विशुद्धि असम्भव होती

तो सामायिक प्रतिक्रमण करना भी व्यर्थ हो जाता। पापों की विशुद्धि होती है मगर जैसा पाप हो, वैसा ही प्रायश्चित्त होना चाहिए। कपड़े पर जब तक किसी प्रकार की अशुद्धि लगी हो तब तक उसके प्रति घृणा बनी रहती है, मगर कपड़ा धोकर साफ कर लेने के पश्चात् पहना ही जाता है। इसी प्रकार अपने पापों को कायोत्सर्ग द्वारा धो डालने से आत्मा निष्पाप हो जाता है।

व्रतों में अतिचार लगने से जो पाप आत्मा के लिए बोझ-रूप हो जाते हैं, कायोत्सर्ग द्वारा आत्मा उस बोझ से निवृत्त हो जाता है। कायोत्सर्ग करने पर भी आत्मा पाप से हलका न हो तो समझना चाहिए कि कायोत्सर्ग में कुछ न कुछ त्रुटि अवश्य रह गई है! दवा लेने पर भी बीमारी न मिटे तो यही समझा जाता है कि या तो दवा में कोई दोष है या दवा लेने वाले में कोई त्रुटि है। इसी प्रकार कायोत्सर्ग करने पर भी आत्मा पाप के भार से हलका न हो तो समझना चाहिए कि आत्मा ने सम्यक् प्रकार से कायोत्सर्ग नहीं किया है।

कायोत्सर्ग करने से आत्मा के ऊपर लदा हुआ भार उतर जाता है और तब आत्मा को ऐसा आनन्द प्राप्त होता है, जैसे बोझ उतरने पर मजदूर को आनन्द होता है। श्री स्थानांग सूत्र के चौथे स्थानक में आत्मा के लिए चार विश्रान्तिस्थान बतलाये गये हैं। उनका सार इतना ही है कि जैसे सिर का भार उतर जाने से शान्ति मिलती है, उसी प्रकार आत्मा पर लदा हुआ पाप का भार कायोत्सर्ग द्वारा उतर जाने से आत्मा को शान्ति मिलती है। इस प्रकार

आत्मा स्वस्थ बनता है और सुखरूप विचरता है। इतना ही नही शात होकर आत्मा फिर प्रशस्त धर्मध्यान मे तल्लीन हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के भार से हल्का हो जाता है। आत्मा निष्पाप होकर प्रशस्त धर्मध्यान मे तल्लीन रहता है और मुक्ति उसके समीप आ जाती है। इस प्रकार निष्पाप बना हुआ आत्मा कभी दुखी नही होता, सदा सुखी बना रहता है। सुखी बनने का उपाय यही है कि आत्मा पर पाप का जो भार लदा हो उसे कायोत्सर्ग द्वारा उतार दिया जाय। मगर दुनिया की पद्धति निराली ही नजर आती है। लोग धन-पुत्र वगैरह मे सुख समझते हैं अर्थात् जिसके ऊपर पाप का भार लदा है उन्ही को सुखी समझा जाता है और जो लोग पाप के भार से हल्के हो गये हैं उन्हे दुखी माना जाता है। यह एक प्रकार का भ्रम है। सुखी वास्तव मे वही है जिसके सिर पर पाप का भार नही रहा, जो पाप का बोझा उतार कर हल्का बन गया है।

आत्मा मे अनन्त शक्तियां छिपी हुई है। उन्हे प्रकट करने के लिए ही शास्त्रकार कायोत्सर्ग का उपदेश देते है। भगवान् कहते हैं कायोत्सर्ग करने से आत्मा पाप के बोझ से मुक्त होकर सुख-लाभ करता है और प्रशस्त धर्मध्यान मे लीन होकर मुक्ति के समीप पहुचता है। काय के प्रति ममताभाव का त्याग करके कायोत्सर्ग करने वाले को किसी प्रकार का दुःख नही रहता। वह सुखी होता है।

हे आत्मन्! तुझमें और परमात्मा मे जो भेद है,

वह कायोत्सर्ग द्वारा मिट जाता है। व्यतिरेक मे इस कथन का अर्थ यह भी हो सकता है कि आत्मा और परमात्मा के बीच भेद डालने वाला यह शरीर ही है । उदाहरणार्थ— आग पर पानी रखने से पानी उबलता है और उबलने पर सन्-सन् की आवाज करता है । यह आवाज करता हुआ पानी मानो यह कह रहा है कि मुझ मे आग बुझा देने की शक्ति है, लेकिन मेरे और आग के बीच मे यह पात्र आ गया है । मैं इस पात्र मे बन्द हूँ और इसी कारण आग मुझे उबाल रही है और मुझे उबलना पड रहा है। इसी प्रकार आत्मा तो सुख स्वरूप ही है, परन्तु इस शरीर के साथ बद्ध होने के कारण वह दुःख पा रहा है । कायोत्सर्ग द्वारा जब शरीर सम्बन्धी ममत्व-भाव त्याग दिया जाता है, तब आत्मा मे किसी प्रकार का दुःख नही रह पाता ।



६-प्रत्याख्यान

कायोत्सर्ग करने से आत्मा सुखपूर्वक विचरता है और प्रत्याख्यान करने के योग्य बनता है। प्रत्याख्यान वही कर सकता है जो कायोत्सर्ग करता है। अतएव अब प्रत्याख्यान के विषय मे विवेचन किया जाता है।

प्रश्न पच्चक्खाणेणं भन्ते! जीवे किं जणयइ?

उत्तर—पच्चक्खाणेणं आसवदाराइं निरुंभई, पच्चक्खाणेणं इच्छानिरोहं जणयइ, इच्छानिरोहं गए णं जीवे सव्व-दव्वेसु विणीयतण्हे सीईभूए विहरइ।

अर्थात्

प्रश्न भगवन्! प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है?

उत्तर—प्रत्याख्यान करने से (अर्थात् मूलगुण और उत्तर-गुण धारण करने से) हिंसा आदि आस्रवद्वार बन्द हो जाते हैं और इच्छा का निरोध हो जाता है। इच्छा का निरोध होने से जीव सब द्रव्यो की तृष्णा से रहित होता है और इस प्रकार शान्तचित्त हो सुखपूर्वक विचरता है।

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसके आशय पर विचार करने से पहले इस बात का विचार कर लेना आवश्यक है कि कायोत्सर्ग कर लेने पर भी प्रत्याख्यान करने की क्या आवश्यकता है ? शरीर सम्बन्धी ममत्व का त्याग करने के उद्देश्य से कायोत्सर्ग किया जाता है । अन्य जनता में मृत्यु का जो प्रबल भय फैला है, कायोत्सर्ग द्वारा उस पर विजय प्राप्त की जाती है । कायोत्सर्ग करने से मनुष्य 'जीवियासा-मरणभयविप्पमुक्क' अर्थात् जीवन की लालसा और मरण के भय से मुक्त हो जाता है । कायोत्सर्ग से अतीत काल के पापों की शुद्धि होती है और प्रत्याख्यान से भविष्य के पाप रुकते हैं । इस प्रकार कायोत्सर्ग में भूतकालीन पापों की शुद्धि होती है, परन्तु भविष्य में होने वाले पापों को रोकने के लिए प्रत्याख्यान करने की आवश्यकता है । अतएव कायोत्सर्ग करने वाले को प्रत्याख्यान अवश्य करना चाहिए ।

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा है कि मूलगुणों और उत्तरगुणों को धारण करने के लिए प्रत्याख्यान किया जाता है । अहिंसा, सत्य अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—यह पांच मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह उत्तरगुण हैं । अर्थात् साधुओं के लिये पांच महाव्रत मूलगुण हैं और नवकारसी आदि उत्तरगुण हैं । इसी प्रकार श्रावकों के लिए पांच अणुव्रत मूलगुण हैं और नवकारसी वगैरह उत्तरगुण हैं । स्थूल हिंसा न करना स्थूल असत्य न बोलना, स्थूल चोरी न करना, परस्त्रीगमन न करना, और परिग्रह की मर्यादा करना, यह पांच अणुव्रत श्रावक के मूलगुण हैं और सात व्रत उत्तरगुण हैं । उत्तरगुण पालने वाले साथ इन मूलगुणों

के लिए वाड के समान हैं। मगर ध्यान रखना चाहिए कि वाड उसी खेत मे लगाई जाती है, जिसमे कुछ हो। जिस खेत में कुछ भी नही होता, उस खेत के चारो ओर वाड लगाना व्यर्थ समझा जाता है। किसी श्रावक में उत्तरगुण न हो परन्तु मूलगुण हो तो उसे शास्त्र इतना अनुचित नही मानता, जितना अनुचित मूलगुण न होना मानता है। मूलगुणो के प्रति तनिक भी सावधानी न रखते हुए केवल उत्तरगुणो से चिपटे रहना एक प्रकार का ढोग है। उदाहरणार्थ कोई मनुष्य व्यवहार मे हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार और परधन का हरण करता रहता है और धर्मस्थान में जाकर सामायिक करने का दिखावा करता है, तो उसका यह दिखवा ठीक नही कहा जा सकता। इतना ही नही, ऐसा करने वाला व्यक्ति अपने धर्म और धर्मगुरु को भी लजाता है। इससे विपरीत कोई मनुष्य सामायिक तो नही करता किन्तु स्थूल हिंसा भी नही करता—बल्कि दुखी जीवो पर अनुकम्पा करता है, सत्य बोलता है, प्रमाणिकता रखता है और इसी प्रकार अन्य मूलगुणो का पालन करता है तो वह घर मे बैठा-बैठा भी साधुओ की महिमा बढाता है। इस प्रकार उत्तरगुणो के लिए मूलगुणो का होना आवश्यक है और मूलगुण होने पर उत्तरगुणो को अपनाने की इच्छा स्वत. उत्पन्न होगी। जिसमे मूलगुण होगे, वह अपने मूलगुणो को विकसित करने के लिए उत्तरगुणो को अपनाएगा ही। इस प्रकार मूलगुणो के साथ ही उत्तरगुणो की शोभा है। प्रत्याख्यान करने से मूलगुणो और उत्तरगुणों को धारण किया जा सकता है।

प्रत्याख्यान करने से जीव को क्या फल मिलता है ?

भगवान् से यह प्रश्न पूछा गया है। वास्तव मे प्रत्येक कार्य का फल जानना आवश्यक है। फल देखे जाने बिना किसी भी कार्य मे प्रवृत्ति नही हो सकती। इस कथन के अनुसार प्रत्याख्यान करने मे क्या फल मिलता है, यह जानना भी आवश्यक है। प्रत्याख्यान के फल के सम्बन्ध मे पूछे हुए प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि प्रत्याख्यान करने से आस्रव-द्वारो का निरोध होता है।

हिंसा, असत्य, चोरी, मैथुन और परिग्रह यह पाच आस्रव हैं। प्रत्याख्यान इन पाच आस्रवो को रोकता है। जो हिंसा का त्याग करेगा वह किसी जीव को मारेगा नही और न दुःख ही देगा। वह स्वयं कष्ट सहन कर लेगा पर दूसरो को कष्ट नही पहुचाएगा। जो असत्य का त्याग करेगा वह किसी के सामने झूठ नही बोलेगा। चोरी का त्याग करने वाला किसी की चीज नही चुराएगा। मैथुन का अथवा परस्त्री का त्याग करने वाला इस पाप मे कदापि नही पडेगा।

अभया रानी ने सुदर्शन सेठ को कितना भय और प्रलोभन दिया? फिर भी सुदर्शन ने व्यभिचार का सेवन नही किया। इसका कारण यही था कि सुदर्शन परस्त्री का त्यागी था। इसी प्रकार परिग्रह का परिमाण करने वाला दूसरे के द्रव्यो पर मन नही करेगा और धन आने पर प्रसन्नता का तथा धन जाने पर दुःख का अनुभव नही करेगा। परन्तु परिग्रह का सर्वथा त्यागी तो किसी भी प्रकार का परिग्रह नही रखेगा। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से आस्रव का निरोध हो जाएगा। प्रत्याख्यान का महत्त्व ही यह है

कि प्रत्याख्यान करने वाले को अपने त्याग से बाहर की मूल्यवान् वस्तु मिलेगी तो भी वह लेने के लिए तैयार नही होगा और न उसे स्वीकार करेगा। उदाहरणार्थ—अरणक श्रावक को किसी देव ने कुंडलो की जोडिया दी थी। वे कुंडल कितने कीमती होगे ? फिर भी उसने कुंडल अपने पास नही रखे। उसने राजाओ को भेट कर दिये। इसका कारण यही था कि कुंडल की जोड़ी उसके त्याग की मर्यादा के बाहर की वस्तु थी। उसने परिग्रह की मर्यादा कर ली थी। जो परिग्रह का परिमाण कर चुका होगा वह चिन्तामणि या कल्पवृक्ष मिलने पर भी उसे ठुकरा देगा, क्योंकि यह अमूल्य वस्तुए उसका त्याग भंग करने वाली है। इस प्रकार की अमूल्य वस्तुए भी स्वीकार न करना प्रत्याख्यान का ही प्रताप है।

सभी लोग अगर इच्छा का परिमाण कर ले तो ससार मे किसी प्रकार की अशान्ति ही नही रहे। आज ससार मे जो अशान्ति फैल रही है, वह इस व्रत के अभाव के कारण ही फल रही है। इस व्रत के पालन न करने के कारण ही बोल्शेविजम-साम्यवाद उत्पन्न हुआ है। भारतवर्ष मे भी साम्यवाद का प्रचार बढ रहा है। धनवान् लोग पूजी दबाकर बैठ रहे और गरीब दुःख पावे, तब गरीबो को धनिको के प्रति द्वेष उत्पन्न हो, यह स्वाभाविक है। गरीबो के हृदय मे इस प्रकार की भावना उत्पन्न हो सकती है कि हम तो मुसीबते उठा रहे है और यह लोग अनावश्यक धन दबाकर बैठे हैं। तुम ठास-ठास कर पेट भरो और बचे तो फेक दो, मगर तुम्हारे सामने दूसरा मनुष्य भूखो मर रहा हो और उसकी खोज खबर तक न लो ! इसी

प्रकार तुम्हारे पास अनावश्यक वस्त्र ट्रंकों में भरे पड़े रहें और दूसरा मनुष्य कड़कड़ाती हुई ठंड में सिकुड़कर मर रहा हो फिर भी उसे कपड़ा न दो ! तब इन दुःखी मनुष्यों में तुम्हारे प्रति द्वेष की भावना उत्पन्न हो और द्वेषभाव से प्रेरित होकर वे तुम्हारा धन लूटने के लिए तैयार हो जाएं वह स्वाभाविक है। कदाचित् तुम कहोगे कि कंगाल लोग हमारा क्या बिगाड़ सकते हैं ? मगर यह समझना भूल है। यह कंगाल लोग थोड़े नहीं हैं और फिर आज तुम्हारे पास जो धन है वह उन्हीं से तुम्हारे पास आया है। अतएव तुम्हें विचारना चाहिए कि जब वस्तु भेद नहीं करती तो फिर मुझे भेद करने का क्या अधिकार है ? वस्तु तो किसी प्रकार का भेद नहीं करती। जो भोजन तुम्हारी भूख शान्त कर सकता है वह क्या दूसरों की भूख नहीं मिटा सकता ? इस प्रकार जब वस्तु भेद नहीं करती तो तुम क्यों भेद करते हो ? प्राचीन काल में तो ऐसे ऐसे लोग हो गये हैं, जिन्होंने स्वयं भूखे रहकर भी दूसरों को भोजन दिया ! अगर तुम उन सरीखे नहीं बन सकते तो कम से कम इतना तो कर सकते हो कि तुम्हारे पास जो वस्तु अधिक हो, उसे दबाकर मत बैठे रहो। तृष्णा के वश होकर दूसरों के दुःख की उपेक्षा तो मत करो ! तृष्णा की पूर्ति न कोई कर सका है और न कभी हो ही सकेगा। अतएव इच्छा का निरोध करके तृष्णा को रोको। इस विषय में जो बात जैन शास्त्र कहता है, वही बात महाभारत में भी कही गई है। महाभारत में कहा है—

यश्च कामसुखं लोके, यश्च दिव्य महत्सुखं ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशी कलाम् ।।

इस श्लोक का आशय यह है कि इस लोक मे किसी को चक्रवर्ती जैसा पद भले ही प्राप्त हो जाय और देव सम्बंधी दिव्य सुख भी मिल जाय, इन दोनो सुखो को तराजू के एक पलडे मे रख दिया जाय और दूसरे पलड़े मे इच्छा निरोध का सुख रखा जाय, तो यह दोनो सुख इच्छानिरोध के सुख की तुलना में सोलहवी कला भी प्राप्त नही कर सकते । तात्पर्य यह कि दिव्य सुख, इच्छानिरोध के सुख के सोलहवे भाग के बराबर भी नही है ।

वस्तुओ की तृष्णा रोकी जाय और आवश्यकताएं कम की जाए। ऐसा करने से आत्मा को अनुपम सुख प्राप्त होता है, क्रमशः तृष्णा पर विजय प्राप्त की जा सकती है । अतएव अपनी आवश्यकताएं घटाओ । ज्यों-ज्यो आवश्यकताए घटाओगे त्यो-त्यो तृष्णा पर विजय प्राप्त होती जायगी और परिणामस्वरूप सुख प्राप्त कर सकोगे । इससे विपरीत आवश्यकताए जितनी बढाओगे तृष्णा भी उतनी ही बढेगी और तृष्णा बढने से दु.ख भी बढेगा । अतएव अगर सुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो अपनी आवश्यकताएं कम करो और तृष्णा को जीतो । तृष्णा विजय ही सुख का एक मात्र राजमार्ग है ।

प्रत्याख्यान का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान से आस्रव का निरोध होता है । भगवान् के इस उत्तर से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् ने भी मूलगुणो पर अधिक जोर दिया है, क्योंकि मूलगुणो से ही आस्रव

का निरोध होता है। हिंसा का निरोध अहिंसा से होता है और असत्य का निरोध सत्य से ही होता है। इसी प्रकार अन्य आस्रवों का निरोध भी मूलगुणों से ही होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने मूलगुणरूप प्रत्याख्यान पर अधिक बल दिया है। भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारों का निरोध होता है और उससे जीव मुक्ति के सन्निकट पहुंचता है। भगवान् के इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्याख्यान आस्रव निरोध के साथ ही पूर्व-कर्मों को भी नष्ट करता है। इस कथन के लिए प्रमाण यह है कि प्रत्याख्यान को मोक्ष का अंग माना है। इस विषय में टीकाकार कहते हैं—

> पच्चक्खाणे वि ण सेविऊणं भावेण जिणवरुद्दिट्ठं ।
> पत्ताणंता जीवा सासयसोक्खं लहुं मोक्खं ॥

अर्थात्—मूलगुण और उत्तरगुणरूप प्रत्याख्यान का भावपूर्वक सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि हंस का भाग कौवा ला जाय ! अर्थात् प्रत्याख्यान भी दूसरे प्रयोजनों से किया जाय ! मोक्ष के लिए प्रत्याख्यान करना हो तो भावपूर्वक ही करना चाहिए और मोक्ष के उद्देश्य से किया जाने वाला प्रत्याख्यान ही आत्मा के लिए लाभदायक सिद्ध होता है और उसी से आस्रवों का निरोध हो सकता है। बहुत से लोग प्रत्याख्यान करके लौकिक स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। इस प्रकार का प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक नहीं होता। वही प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक हो सकता है जो वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट हो और जो भावपूर्वक किया जाय। जो राग और द्वेष से अतीत हो चुके

यश्च कामसुखं लोके, यश्च दिव्य महत्सुखं ।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हन्ति षोडशी कलाम् ।।

इस श्लोक का आशय यह है कि इस लोक मे किसी को चक्रवर्ती जैसा पद भले ही प्राप्त हो जाय और देव संबंधी दिव्य सुख भी मिल जाय, इन दोनो सुखों को तराजू के एक पलडे मे रख दिया जाय और दूसरे पलडे मे इच्छा निरोध का सुख रखा जाय, तो यह दोनो सुख इच्छानिरोध के सुख की तुलना में सोलहवी कला भी प्राप्त नही कर सकते । तात्पर्य यह कि दिव्य सुख, इच्छानिरोध के सुख के सोलहवे भाग के बराबर भी नही है ।

वस्तुओ की तृष्णा रोकी जाय और आवश्यकताएं कम की जाए । ऐसा करने से आत्मा को अनुपम सुख प्राप्त होता है, क्रमशः तृष्णा पर विजय प्राप्त की जा सकती है । अतएव अपनी आवश्यकताएं घटाओ । ज्यो-ज्यो आवश्यकताएं घटाओगे त्यो-त्यो तृष्णा पर विजय प्राप्त होती जायगी और परिणामस्वरूप सुख प्राप्त कर सकोगे । इससे विपरीत आवश्यकताए जितनी बढाओगे तृष्णा भी उतनी ही बढ़ेगी और तृष्णा बढने से दुःख भी बढ़ेगा । अतएव अगर सुख प्राप्त करने की इच्छा हो तो अपनी आवश्यकताए कम करो और तृष्णा को जीतो । तृष्णा विजय ही सुख का एक मात्र राजमार्ग है ।

प्रत्याख्यान का फल बतलाते हुए भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान से आस्रव का निरोध होता है । भगवान् के इस उत्तर से स्पष्ट विदित होता है कि भगवान् ने भी मूलगुणो पर अधिक जोर दिया है, क्योंकि मूलगुणो से ही आस्रव

का निरोध होता है। हिंसा का निरोध अहिंसा से होता है और असत्य का निरोध सत्य से ही होता है। इसी प्रकार अन्य आस्रवों का निरोध भी मूलगुणों से ही होता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि भगवान् ने मूलगुणरूप प्रत्याख्यान पर अधिक बल दिया है। भगवान् ने कहा है कि प्रत्याख्यान करने से आस्रवद्वारों का निरोध होता है और उससे जीव मुक्ति के सन्निकट पहुँचता है। भगवान् के इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्याख्यान आस्रव निरोध के साथ ही पूर्व-कर्मों को भी नष्ट करता है। इस कथन के लिए प्रमाण यह है कि प्रत्याख्यान को मोक्ष का अंग माना है। इस विषय में टीकाकार कहते हैं—

पच्चक्खाणे वि णं सेविऊण भावेण जिणवरुद्दिट्ठं।
पत्ताणंता जीवा सासयसोक्खं लहू मोक्खं॥

अर्थात्—मूलगुण और उत्तरगुणरूप प्रत्याख्यान का भावपूर्वक सेवन करना चाहिए। ऐसा न हो कि हंस का भाग कौवा खा जाय! अर्थात् प्रत्याख्यान भी दूसरे प्रयोजनों से किया जाय! मोक्ष के लिए प्रत्याख्यान करना हो तो भावपूर्वक ही करना चाहिए और मोक्ष के उद्देश्य से किया जाने वाला प्रत्याख्यान ही आत्मा के लिए लाभदायक सिद्ध होता है और उसी से आस्रवों का निरोध हो सकता है। बहुत से लोग प्रत्याख्यान करके लौकिक स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं। इस प्रकार का प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक नहीं होता। वही प्रत्याख्यान मोक्ष का साधक हो सकता है जो वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट हो और जो भावपूर्वक किया जाय। जो राग और द्वेष से अतीत हो चुके

हैं वे वीतराग भगवान् जिस प्रत्याख्यान का उपदेश देते हैं, वह मोक्ष के लिए ही हो सकता है। वीतराग भगवान् द्वारा उपदिष्ट इस प्रत्याख्यान के आधार पर अनंत-जीव मोक्ष प्राप्त कर चुके हैं, करते हैं और करेंगे तथा शाश्वत सुख प्राप्त किया है, प्राप्त करते हैं और प्राप्त करेंगे ।

इस प्रकार प्रत्याख्यान मोक्ष का एक अंग माना गया है और इससे स्पष्ट है कि आस्रवों का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत पापों को भी नष्ट करता है । इसके अतिरिक्त पूर्ण प्रत्याख्यान करने वाले को चारित्रशील कहा है और चारित्र का अर्थ पूर्वकृत कर्मों को नष्ट करना होता है । इस कथन से भी यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि प्रत्याख्यान आस्रव-द्वारों का निरोध करने के साथ ही पूर्वकृत कर्मों को भी नष्ट करता है ।

प्रत्याख्यान से जीव को क्या लाभ होता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है प्रत्याख्यान से आस्रव-द्वार बन्द होता है और इच्छा का निरोध होता है । इच्छा का निरोध प्रत्याख्यान करने से होता है, अतः राग-द्वेष भी नहीं होता । प्रत्याख्यान से किस प्रकार इच्छा का निरोध होता है, यह बात एक उदाहरण द्वारा समझाई जाती है ।

कल्पना कीजिए, किसी मनुष्य ने आम खाने का प्रत्याख्यान किया । आम खाने का त्याग करने के पश्चात् जगत् मे आम हैं या नहीं, इस वर्ष आम की फसल कैसी आई है, आम किस भाव बिकते हैं, ऐसी बातों का वह कोई विचार तक नहीं करता । आम खाने का त्याग करने वाला आम

के भाव-ताव की चिन्ता क्यों करेगा? आम के प्रति उसकी कोई रुचि या इच्छा ही नही होती। इस प्रकार प्रत्याख्यान करने वाले की इच्छा का निरोध हो जाता है। संसार के सारे कांटे बीने नही जा सकते, परन्तु पैर मे मजबूत जूता पहनने वाले के लिए तो मानो जगत् मे कांटे रहते ही नही। इसी प्रकार ससार के समस्त पदार्थ नष्ट नही हो सकते, लेकिन प्रत्याख्यान करने वाले की इच्छा, प्रत्याख्यान की हुई वस्तु की ओर जाती ही नही है। इस प्रकार प्रत्याख्यान द्वारा इच्छा का निरोध होता है।

कितनेक लोगों का कहना है कि प्रत्याख्यान में क्या रखा है। किन्तु प्रत्याख्यान मे कुछ रखा है या नहीं, यह बात गांधीजी से पूछो तो मालूम हो जायगी। गांधीजी ने प्रत्याख्यान न किया होता तो वह महात्मा बन सकते या नहीं, यह एक प्रश्न है। प्रत्याख्यान लेने के कारण ही वह बीमारी के अवसर पर भी मांस मदिरा वगैरह के पाप से बच सके थे।

इस प्रकार प्रत्याख्यान से इच्छा का निरोध होता है। इच्छा के निरोध से आत्मा को अत्यन्त लाभ पहुंचता है। प्रत्याख्यान करने मे भी विवेक की अत्यन्त आवश्यकता है। ऐसा नहीं चाहिए कि बकरी निकालने मे ऊंट घुस जाय। अर्थात् छोटे पापों का तो प्रत्याख्यान किया जाय और उनके बदले बड़े पाप अपनाये जाएं। अतएव प्रत्याख्यान करते समय विवेक रखना चाहिए। अविवेकपूर्वक प्रत्याख्यान करने में लाभ के बदले हानि अधिक होती है। वही प्रत्याख्यान सच्चा है जो इच्छा का निरोध करने के लिए किया जाता हो।

इच्छा का निरोध होने से क्या लाभ मिलता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने कहा है—इच्छा का निरोध होने से जीव को किसी भी द्रव्य की तृष्णा या लालसा नहीं रहती । तृष्णा जीव के लिए वैतरणी नदी के समान दुःखदायक है, इसलिए तृष्णा को जीतो । तृष्णा को जीतने के लिए भगवान् ने मार्ग बतलाया ही है कि इच्छा का निरोध करो और इच्छा के निरोध के लिए प्रत्याख्यान करो । इच्छा का निरोध तृष्णा को जीतने का अमोघ उपाय है । आशय यह है कि प्रत्याख्यान से इच्छा-निरोध होता है, इच्छानिरोध से तृष्णा मिट जाती है, तृष्णा मिटने से संताप का शमन हो जाता है और सन्ताप के शमन से जीव को सुखशान्ति प्राप्त होती है । भगवान् ने जगत् के जीवो को सुख का यह मार्ग बतलाया है ।

कुछ लोग पूछते हैं कि प्रत्याख्यान करने से आत्मा सताप से किस प्रकार बच सकता है ? इस प्रश्न के उत्तर मे इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि प्रत्याख्यान एक ऐसी दिव्य औषधि है कि उससे तत्काल आत्मा का सन्ताप शान्त हो जाता है । इसे समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी होगा . -

मान लीजिए, किसी मनुष्य ने परस्त्री का त्याग किया । परस्त्री का त्याग करने से वह परस्त्री सम्बन्धी सन्ताप से बचा रहेगा । उसके विरुद्ध जो परस्त्री का त्यागी नहीं है, उसे परस्त्री मिले या न मिले, फिर भी परस्त्री विषयक सन्ताप उसके हृदय को जलाता ही रहेगा । रावण को

सीता न मिली पर सन्ताप तो मिला ही ! काम की दस दशाओं का जो वर्णन किया गया है, उससे ज्ञात हो सकता है कि रावण को किस प्रकार का सन्ताप था ! परस्त्री का त्याग न होने से परस्त्री-विषयक ऐसा सन्ताप होता है कि जिससे कुल परिवार, राज्य, देश वगैरह मटियामेट हो जाते हैं । अगर परस्त्री का त्याग हो तो ऐसा अवसर ही क्यों आवे ? इस प्रकार प्रत्याख्यान करने से इस लोक सम्बन्धी और परलोक सम्बन्धी सन्तापों से छुटकारा मिलता है । इस सन्ताप से बचने के लिए और सुखी बनने के लिए प्रत्याख्यान करना आवश्यक है । प्रत्याख्यान न करने से किस प्रकार का कष्ट होता है और परस्त्री का प्रत्याख्यान न करने से स्थिति कैसी बेढंगी बन जाती है, इसके लिए नाथद्वारा के महंत का उदाहरण सामने ही है । प्रत्याख्यान न करने से इस लोक के व्यवहार की भी हानि होती है और परलोक की भी हानि होती है । अतएव अगर सुखी बनना है और प्रत्येक प्रकार के सन्ताप से बचना है तो प्रत्याख्यान करो । प्रत्याख्यान से आत्मा पाप से बच जायगा और सुख-शान्ति का लाभ करेगा ।

